अमर धर्मवीर
स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति

स. मन्त्री, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
दिल्ली

प्रथम संस्करण : 1950

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्स

नई सड़क, दिल्ली

भूमिका

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूं कि अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के साथ मेरा अनेक रूपों में घनिष्ठ सम्पर्क रहा। मैं जब लगभग ८ वर्ष का बालक था तो मेरे जन्म-स्थान दुनियांपुर (तहसील लोधरां, ज़िला मुल्तान) के समीप मुल्तान में गुरुकुल काङ्गड़ी की प्रथम शाखा फर्वरी सन् १६०६ में पूज्यपाद महात्मा मुंशीराम जी ने (उस समय वे वानप्रस्थाश्रम में थे और उनका यही प्रसिद्ध नाम था) अपने कर-कमलों से खोली जिसमें मैं अन्य लगभग २० विद्यार्थियों सहित प्रविष्ट हुआ। उनके पवित्र कर-कमलों से यज्ञोपवीत ग्रहण करने और गायत्री द्वारा वेदारम्भ का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। फर्वरी सन् १६१७ में जब गुरुकुल मुल्तान से अधिकारी परीक्षा देने मैं गुरुकुल काङ्गड़ी पहुंचा तो वे ही हमारे आचार्य और महाविद्यालय में मेरे पर्याय विषय 'आर्य-सिद्धान्त' के प्रतिष्ठित उपाध्याय थे। इस प्रकार मुझे उनके प्रिय शिष्य होने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ। जब मार्च सन् १६२१ में मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी से प्रतिष्ठित सिद्धान्तालङ्कार पदवी को लेकर स्नातक हुआ तो उस समय भी हमारे जगद्वन्द्य आचार्य के रूप में दीक्षान्त भाषण उन्होंने ही दिया था। स्नातक बनने के पश्चात् सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा देहली की ओर से उनकी ही प्रधानता में मैं अनेक वर्षों दक्षिण भारत में प्रचारक के रूप में कार्य करता रहा और अनेक प्रचार-यात्राओं में उनके

साथ रहा, जिससे उनके वैयक्तिक निकट-सम्पर्क में आने और उससे लाभ उठाने का उत्तम अवसर मुझे प्राप्त होता रहा। मेरे ऊपर पिता, माता, आचार्य और मार्गदर्शक के रूप में उनका वरद-हस्त सदा ही विद्यमान रहा अतः मेरा एक २ रोम उनके प्रति ऋणी है। इस घनिष्ठ सम्पर्क के कारण मैं उनकी एक शिक्षा-प्रद जीवनी जो आर्य-कुमारों और युवकों के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हो, लिखने का अपने को अधिकारी समझता हूँ। अपने श्रद्धेय आचार्यवर के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके यदि मैं उनके प्रति महान् ऋण को स्वल्प अंश तक भी चुका सकूं तो अपने को धन्य मानूंगा। इसीलिये मैंने अपने पुराने मित्र धर्मवीर महाशय राजपाल जी के सुपुत्र के इस अनुरोध को, कि मैं आर्यकुमारों और युवकों के विशेष लाभार्थ श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का एक संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिखूं, पूर्ण करना स्वीकार कर लिया। मान्य श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति द्वारा सम्पादित और पं० सत्यदेव जी विद्यालङ्कार द्वारा लिखित 'स्वामी श्रद्धानन्द' जी के विस्तृत जीवन-चरित्र और अमर धर्मवीर के 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से लिखित आत्म-चरित से इसके लिखने में बड़ी सहायता मिली है जिसके लिये मैं उत्तम ग्रन्थों के लेखकों और प्रकाशकों का कृतज्ञ हूँ; तथापि अपने तथा अन्य मित्रों के अनु-भवादि के आधार पर इसे आर्यकुमारों के लिये विशेष उपयोगी और शिक्षाप्रद बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है। मुझे तो ऐसे प्रतीत होता है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का जीवन-

चरित्र अपने मान्यवर आचार्य महर्षि दयानन्द जी के जीवन की अपेक्षा भी सर्वसाधारण के लिये अधिक शिक्षाप्रद और स्फूर्ति-दायक हैं क्योंकि जहां महर्षि दयानन्द का आदि से अन्त तक सम्पूर्ण जीवन एक प्रकार से सर्वथा निष्कलङ्क और निष्पाप है तथा आजीवन ब्रह्मचर्य और योग के चरम अभ्यास के कारण साधारण व्यक्तियों के लिये दुर्गम-सा प्रतीत होता है, वहां स्वामी श्रद्धानन्द जी का पूर्व जीवन अनेक अंशों में सर्वसाधारण से भी अधिक पतित और अन्धकारमय था जो महर्षि दयानन्द जैसे महात्माओं के सत्सङ्ग तथा तप से क्रमशः ज्योति की ओर जाता रहा और अन्त में वे इतनी उन्नत अवस्था को पहुंच गये कि स्वभावतः लोगों ने अपनी श्रद्धा के कुसुम चढ़ाते हुए उन्हें 'महात्मा जी' के आदरसूचक नाम से सदा स्मरण किया। धर्म-वेदी पर अपने पवित्र-जीवन की आहुति देकर २३ दिसम्बर १९२६ को वे सचमुच अमर धर्मवीर बन गये। इस जीवनी का उद्देश्य विस्तार से उनकी जीवन-घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन करना नहीं किन्तु अन्धकार से ज्योति प्राप्त करने पर, आदर्श निर्भय समाज सुधारक, आदर्श शिष्य, आदर्श आचार्य और कर्मयोगी के रूप में उनका चरित्र-चित्रण यथासम्भव उनके अपने शब्दों में कर के आर्यकुमारों और युवकों को लाभ पहुँचाना है। भगवान् करे इस जीवनी के पाठ से पाठकों को दिव्य-स्फूर्ति प्राप्त हो और सब के जीवन श्रद्धामय और निर्भय बन जाएं! वचनामृत संग्रह में श्रद्धेय स्वामी जी के अनन्यभक्त श्री लब्भूराम जी लुधियाना वासी द्वारा संगृहीत स्वामी श्रद्धानन्द जी के 'धर्मोपदेश' से सहायता ली गई है, जिसके लिये उनको धन्यवाद देता हूं।

श्रद्धानन्द-बलिदान-भवन
देहली १८-३-१९५०

—धर्मदेव विद्यावाचस्पति

१

अन्धकारमय निरंकुश जीवन

मुन्शीराम जी का जन्म संवत् १९१३ विक्रमी (सन् १८५६) फाल्गुन मास कृष्ण-त्रयोदशी के दिन, पञ्जाब प्रांत के ज़िला जालन्धर के पूर्वी कोने पर सतलुज नदी के किनारे स्थित तलवन नामक उपवन में हुआ। आपके पिताजी का नाम श्री नानकचन्द्रजी, दादाजी का श्री गुलाबराय जी और परदादाजी का श्री सुखानन्द जी था। मुन्शीराम जी के परदादा, दादा और पिता सब ईश्वर-भक्त, निर्भय तथा स्पष्टवक्ता थे। आगे जाकर हमारे चरित्रनायक में जो इन गुणों का विकास हुआ, पुराने पैतृक संस्कार भी उसमें अवश्य कारण हुए। उनके पिता पुलिस-विभाग के एक उच्च अधिकारी थे। अपनी माताजी के विषय में उन्होंने लिखा है कि—"माताजी सर्वथा अनपढ़ थीं। शिशुपालन तथा आचारशास्त्र की शिक्षा उन्हें पुस्तकों से प्राप्त नहीं हुई थी। परन्तु मातृ-शक्ति के अन्दर जो स्वाभाविक अगाध प्रेम परमात्मा ने उत्पन्न किया है उसने उन्हें अपनी सन्तान की रक्षा का

ज्ञान दे रक्खा था। आज उस समय का स्मरण करके मन-ही-मन में पश्चात्ताप करता हूँ कि माता की विद्युत्-रूपी स्वाभाविक शिक्षा को, दो अक्षर पढ़ने के अभिमान में फँसकर, मैंने अपने आगे के जीवन में क्यों उपेक्षा की दृष्टि से देखा ?" ('कल्याण-मार्ग का पथिक' पृ० ५) उनकी माताजी बड़े कोमल और प्रेममय स्वभाव की थीं। एक घटना का उल्लेख करते हुए जिसमें उनके पिताजी ने शोर मचाने पर उनको झाड़ दिया था उन्होंने आत्मचरित में लिखा है—"रोते-रोते घिग्घी बंध गई। माताजी ने बाहर से आकर गोद में ले लिया। जो सुख उस समय मिला उसका वर्णन कोई कवि ही कर सकता है।"

मुन्शीराम जी के पिताजी का स्वभाव कुछ उग्र था पर मुन्शीराम जी को वे बहुत (सीमा से अधिक) प्यार करते थे। मुन्शीराम जी का निरंकुश जीवन इस लाड़ का परिणाम था। इस निरंकुश जीवन का विस्तृत वर्णन हमारे चरित्रनायक ने 'कल्याण-मार्ग का पथिक' नामक अपने आत्मचरित में करते हुए लिखा है कि—"इसमें सन्देह नहीं कि मेरी गिरावट की कहानियाँ बहुत से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगाएंगी परन्तु मुझे विश्वास

है कि इस आत्म-कथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार-यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।"

इस अन्धकारमय निरंकुश जीवन का विस्तृत वर्णन करने की यहां विशेष आवश्यकता नहीं। यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि उन दिनों की शिक्षा और कुसङ्गति के परिणामस्वरूप मांस, शराब, जुआ, शतरंज, हुक्का, दुराचारादि के सब व्यसन मुन्शीरामजी को उन दिनों लगे हुए थे। अँग्रेज़ी शिक्षा-पद्धति का एक स्वाभाविक परिणाम यह था कि 'हिन्दू युवक अपने प्रत्येक व्यवहार को दूषित और योरोपियनों के गिरे से गिरे अत्याचार और दुराचार को भी आदर्श समझा करते थे।' मुन्शीराम जी ने लिखा है कि 'मैंने भी उसी विद्यालय में शिक्षा पाई थी जिसने हिन्दू युवकों को अपनी प्राचीन संस्कृति का शत्रु बना दिया था।'

इसमें सन्देह नहीं कि यदि मुन्शीराम जी को कुमारावस्था में ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला होता और उन्हें अपनी प्राचीन आर्यसंस्कृति का ज्ञान तथा उस पर श्रद्धा होती तो उनका प्रारम्भिक जीवन भी उस प्रकार का निरंकुश और उनके अपने ही

शब्दों में 'अन्धकारमय' न होता। चरित्रनायक के इस अन्धकारमय जीवन का पाठ करते हुए भी एक बात अवश्य ज्ञात होती है कि वे सत्य के जिज्ञासु थे और सत्य को ग्रहण करने तथा असत्य के परित्याग में कुछ तत्परता अवश्य दिखाते थे। काशी में रहते हुए वे विश्वनाथ मन्दिर में दर्शनार्थ प्रतिदिन जाया करते थे। एक दिन उनको भ्रमण में ही विलम्ब हो गया। उसके पश्चात् जब वे दर्शनार्थ विश्वनाथ मन्दिर के फाटक पर गये तो पहरेवाले ने उन्हें यह कहकर रोक दिया कि रीवाँ रियासत की रानी दर्शन कर रही हैं, उनके चले जाने पर मन्दिर का द्वार खुलेगा। इस पर उनके दिल को ठेस लगी। उनका जी घबरा उठा और वे उलटे चल दिये। पहरेवाले ने बहुत पुकारा परन्तु उन्होंने घर आकर ही दम लिया। अपनी उस समय की अवस्था का उन्होंने इन शब्दों में वर्णन किया है:—

"मुझे वह रात जागते बीती। मन की व्याकुल दशा थी। प्रश्न पर प्रश्न उठते थे—क्या सचमुच यह जगत्-स्वामी का दरबार है जिससे एक रानी उसके भक्तों को रोक सकती है? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ हो सकती है और या वे देवता कहला सकते हैं जिनके

अन्दर ऐसा पक्षपात हो? परन्तु मूर्तियों को देवता किसने बनाया? नित्य मेरे सामने संगतराश ही तो मूर्तियां बनाते हैं।......कभी व्याकुल होकर दस-बीस मिनट टहलता, फिर बैठ जाता, कभी लेट जाता। फिर दूसरी ओर प्रश्नावली की लहर पर लहर उठी—जब सांसारिक व्यवहारों में पक्षपात है तो देवताओं के दरबार में उसका दखल क्यों न हो? क्या मनुष्यों ने भी पक्ष-पात देवताओं से ही सीखा? क्या मेरे स्वच्छन्द जीवन ने तो मुझे अविश्वासी नहीं बना दिया?" इत्यादि।

यदि यह मूर्तिपूजा से घृणा यहीं तक सीमित रहती तो इसमें दुःख मनाने की कोई बात न होती। यह तो अन्धविश्वास से मुक्ति पाने का ही एक चिन्ह होता किन्तु दुःख की बात चरित्रनायक के अपने ही शब्दों में यह हुई कि:—

"मज़हब, सम्प्रदाय तथा Religion पर से मेरा विश्वास उठ गया। मेरा मत यह हुआ कि मज़हब एक ढकोसला है जो चालाक बुद्धिमानों ने आंख के अन्धों और गांठ के पूरों को फांसने के लिये गढ़ छोड़ा है। मैं अपने आप को पक्का नास्तिक समझ कर अपने स्वभाव के

अनुसार उस पर भी वेग से वह निकला।" (कल्याण मार्ग का पथिक पृ० ३६) इस नास्तिकता का परिणाम यह हुआ कि मुन्शीराम जी का जीवन पूर्वापेक्षया भी अधिक निरंकुश और उच्छृङ्खल बन गया और वे अपने इस अन्धकारमय और व्यसनमय जीवन में ही अपनी शान समझने लगे। इस अन्धकारमय जीवन से ज्योति की ओर उन्होंने कैसे प्रवेश किया, किस प्रकार महर्षि दयानन्द के सत्संग ने उनके संशय-मेघों को छिन्न-भिन्न करके ज्योतिर्मय दिव्य जीवन की ओर उन्हें अग्रसर किया इसका संक्षिप्त वर्णन पाठक अगले अध्याय में पढ़ें।

२

अन्धकार से ज्योति की ओर

सत्सङ्ग और स्वाध्याय का प्रभाव

जिन दिनों हमारे चरित्रनायक ऐसा घोर अन्धकारमय जीवन बिता रहे थे उन दिनों १४ श्रावण संवत् १९३६ को स्वनामधन्य वैदिक धर्मोद्धारक, शिरोमणि आचार्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती बांसबरेली पधारे। ३ भाद्रपद तक उनका बरेली में निवास रहा। मुन्शीराम जी के पिता श्री नानकचन्द जी उन दिनों कोतवाल थे। उनको यह आदेश दिया गया कि वे पण्डित दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फ़िसाद (उपद्रव) को रोकने का प्रबन्ध करें। श्री नानकचन्द्र जी स्वयं सभा में गये और महर्षि के व्याख्यानों से बड़े प्रभावित हुए। उनको यह भी विश्वास हो गया कि उनके नास्तिक पुत्र की संशय-निवृत्ति महर्षि के सत्सङ्ग में हो जाएगी। उन्होंने मुन्शीराम जी को सम्बोधन करते हुए कहा—"बेटा मुन्शीराम! एक दण्डी संन्यासी आये हुए हैं। बड़े विद्वान् और योगिराज हैं।

उनकी वक्तृता सुन कर तुम्हारे संशय दूर हो जाएंगे। कल मेरे साथ चलना।"

मुन्शीराम जी ने 'चलूंगा' ऐसा पिताजी को कह तो दिया पर उनके मन में यही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धि की बात क्या करेगा?

दूसरे दिन मुन्शीराम जी अपने पिताजी के साथ बेगमबाग की कोठी में, जहां स्वामी दयानन्द जी के व्याख्यान हो रहे थे, पहुँचे। महर्षि की आदित्य मूर्ति को देख कुछ श्रद्धा उनके मन में उत्पन्न हुई परन्तु जब पादरी स्कॉट और दो-तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ गई। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि उन्होंने मन में विचार किया—"यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जाएँ।" व्याख्यान परमात्मा के निज नाम 'ओ३म्' पर था। मुन्शीराम जी ने आत्मचरित में लिखा है कि "वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी भूल नहीं सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि-आत्मा का ही काम था।"

ऋषि दयानन्द की निर्भयता के अपने देखे उदाहरण का उल्लेख करते हुए मुंशीराम जी ने अपने आत्मचरित में लिखा है कि :—

"यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द स्वामी तिलाञ्जलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना-शक्ति का सामना करने वाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले। पांच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गई। मैंने कहा 'महाराज! आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की हस्ती (अस्तित्व) है।' दूसरी बार फिर तैयारी करके गया परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली। मैंने फिर अन्तिम उत्तर यही दिया—'महाराज, आपकी तर्कना-शक्ति बड़ी प्रबल है, आपने मुझे चुप तो

करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।'

महाराज पहले हँसे; फिर गम्भीर स्वर से कहा—देखो तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये—यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूंगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे। अब स्मरण आता है कि नीचे लिखा उपनिषद्-वाक्य उन्होंने पढ़ा था :—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ कठ उ० १।२।२२ ॥"

मुन्शीराम जी को महर्षि के साक्षात् सत्सङ्ग का इन थोड़े से दिनों के अतिरिक्त अवसर प्राप्त नहीं हुआ किन्तु इस थोड़े से दिनों के सत्सङ्ग ने उनके मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ा और उनकी काया-पलट होनी प्रारम्भ हो गई। महर्षि के स्मरण से ही मांस-मद्य सेवन, जुआ, व्यभिचार इत्यादि सब व्यसनों से धीरे २ वे मुक्त होने लगे और उनमें आस्तिकता का संचार होने लगा। महर्षि-

कृत सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद-भाष्यादि के नियमित स्वाध्याय ने उन्हें अन्धकार से ज्योति, प्रेय से श्रेय या कल्याण के मार्ग की ओर आने में उन्हें सब से अधिक सहायता दी; इसीलिये उन्होंने महर्षि दयानन्द को अपने आचार्य के रूप में स्वीकार करते हुए उनको निम्नलिखित महत्वपूर्ण हार्दिक श्रद्धाञ्जलि जन्म-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित 'कल्याण-मार्ग का पथिक' नामक आत्म-चरित में समर्पित की जिससे उनकी आदर्श-शिष्यता प्रकट होती है। उन्होंने समर्पण-पत्र में लिखा :—

ऋषि दयानन्द के चरणों में सादर समर्पण !

ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष (सन् १९२५ में) हो चुके परन्तु तुम्हारी दिव्य-मूर्ति मेरे हृदय पर अब तक ज्यों की त्यों अङ्कित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण-मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है ? बिना परमात्मा के जिनकी पवित्र

गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है ! परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया ?

मैं क्या था इसे इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं। मैं क्या बन गया और अब क्या हूं, यह सब तुम्हारी ही कृपा का परिणाम है। इसलिये इससे बढ़कर मेरे पास तुम्हारी जन्मशताब्दि पर और कोई भेंट नहीं हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हें ही अर्पण करूं। तुम वाणी द्वारा प्रचार करने वाले केवल तत्त्ववेत्ता ही न थे परन्तु जिन सचाइयों का तुम संसार में प्रसार करना चाहते थे उनको क्रिया में लाकर सिद्ध कर देना भी तुम्हारा ही काम था। भगवान् कृष्ण की तरह तुम्हारे लिए भी तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया था, परन्तु तुम ने भी मानव-संसार को सीधा मार्ग दिखलाने के लिये कर्म की उपेक्षा नहीं की।

भगवन् ! मैं तुम्हारा ऋणी हूं, उस ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ। इसलिये जिस परमपिता की असीम गोद

में तुम परमानन्द का अनुभव कर रहे हो, उसी से प्रार्थना करता हूं कि मुझे तुम्हारा सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करें। विनीत

—श्रद्धानन्द

इस श्रद्धाञ्जलि से आदर्श शिष्योचित कृतज्ञता और नम्रता सूचित होती है, जो अनुकरणीय है।

मद्य-मांसादि दुर्व्यसनों का परित्याग

महर्षि दयानन्द के सत्सङ्ग से मुंशीराम जी के जीवन में अद्भुत परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु उनके सत्सङ्ग के अतिरिक्त उनकी पतिव्रता धर्मपत्नी शिवदेवी जी का अदृश्य हस्त भी इस परिवर्तन में विशेष सहायक हुआ। शिवदेवी जी विवाह के समय सर्वथा अशिक्षिता थीं किन्तु आर्य-संस्कृति की भावनाएं उनके अन्दर कूट २ कर भरी हुई थीं। आर्य-संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता और उसका महत्व दिखाने के लिये उस एक अप्रिय घटना का वर्णन मुंशीराम जी के अपने ही शब्दों में करना हमें इस प्रसङ्ग में आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि इसका चरित्र-नायक की स्त्री के साथ विशेष सम्बन्ध है।

वह घटना निम्न प्रकार है :—

'एक रात मैं रात के आठ बजे मकान लौट रहा था। गाड़ी दर्जी चौक के दरवाज़े पर छोड़ी। दरवाज़े पर ही बरेली के बुज़ुर्ग रईस, मुन्शी जीवनसहाय का मकान था। उनके बड़े पुत्र मुन्शी त्रिवेनीसहाय ने मुझे रोक लिया। गज़ाक सामने रखी और जाम (प्याला) भर दिया। मैंने इन्कार किया। बोले—तुम्हारे लिये ही तो दो-आतशा खिंचवाई है। यह जौहर है। त्रिवेनी-सहाय जी के छोरे सब मेरे मित्र थे। उनको मैं बड़े भाई के तुल्य समझता था। मैं एक गिलास पी गया। फिर गप्पबाज़ी शुरू हुई और उनके मना करते २ मैं चार गिलास चढ़ा गया। असल में वह बड़ी नशीली शराब थी। उठते ही असर मालूम हुआ। दो मित्र साथ हुए। एक ने कहा, चलो मुजरा कराएं। उस समय तक न तो मैं वैश्या के मकान पर गया था और न कभी किसी वैश्या को अपने यहां बुलाकर बातचीत की थी, केवल महफ़िलों में नाच देखकर चला आता था। शराब ने इतना ज़ोर किया कि पांव ज़मीन पर नहीं पड़ता था। एक खूंड मेरे हाथ में था। एक वैश्या के घर में जा घुसे। कोतवाल साहब के पुत्र को देखकर सब सलाम

करके खड़ी हो गई। घर की बड़ी नायिका को हुक्म हुआ कि मुजरा सजाया जाए। उसकी नौची के पास रुपये देने वाला बैठा हुआ था। उसके आने में देर हुई। न जाने मेरे मुँह से क्या निकला। सारा घर कांपने लगा। नौची घबराई हुई दौड़ी आई और सलाम किया। तब मुझे किसी अन्य विचार ने आ घेरा। उसने क्षमा मांगने के लिये हाथ बढ़ाया और मैं 'नापाक, नापाक' (अपवित्र) कहते हुए नीचे उतर आया। यह सब पीछे साथियों ने बतलाया। नीचे उतरते ही घर की ओर लौटा, बैठक में तकिये पर जा गिरा और बूट आगे कर दिये जो नौकर ने उतारे। उठकर ऊपर जाना चाहा परन्तु खड़ा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य बूढ़े पहाड़ी पाचक ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। छत पर पहुंचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किवाड़ बन्द कर लिये और बरामदे के पास पहुंचा ही था कि उलटी होने लगी। उसी समय एक नाज़ुक छोटी उँगलियों वाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने उलटी खुल के की। अब शिवदेवी के हाथों में मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा मुँह पोंछ, ऊपर का अँगरखा जो खराब हो गया था, बैठे-बैठे ही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर

अन्दर ले गई। वहां पलंग पर लिटाकर मुझ पर चादर डाल दी और साथ बैठकर माथा और सिर दबाने लगी। मुझे उस समय का करुणा और शुद्ध प्रेम से भरा सुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया मानो मातृ-शक्ति की छत्रछाया के नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ। पथराई हुई आंखें बन्द हो गईं और मैं गहरी नींद सो गया। रात का शायद एक बजा था जब मेरी आँख खुली। वह १४-१५ वर्ष की बालिका पैर दबा रही थी। मैंने पानी मांगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ। गरम दूध अँगोठी पर से उतार और उसमें मिश्री डालकर मेरे मुँह को लगा दिया दिया। दूध पीने पर होश आया। उस समय अँग्रेज़ी उपन्यास (नॉवल्स) मग़ज़ में से निकल गये और गुसाईं जी के खींचे दृश्य सामने आ खड़े हुए। मैंने उठकर और पास बैठकर कहा—'देवी ! तुम बराबर जागती रहीं और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।' उत्तर ने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलता में भी आशा की झलक थी। शिवदेवी ने कहा—'आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती ?' अब भोजन करने में क्या रुचि है ? उस समय की दशा का वर्णन लेखनी द्वारा नहीं

हो सकता। मैंने अपनी गिरावट की दोनों कहानियाँ सुनाकर देवी से क्षमा की प्रार्थना की परन्तु वहाँ उनकी माता का उपदेश काम कर रहा था—"आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुनाकर मुझ पर पाप क्यों चढ़ाते हो ? मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं आपकी नित्य सेवा करूँ।" उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन से मेरे लिये जीवन ही बदल गया।

इस घटना का उल्लेख करके हमारे चरित्रनायक ने ठीक ही लिखा है कि 'वैदिक आदर्श से गिर कर भी जो सतीत्व धर्म का पालन पौराणिक समय में आर्य महिलाओं ने किया है उसी के प्रताप से भारतभूमि रसातल को नहीं पहुंची और उसमें पुनरुत्थान की शक्ति अबतक भी विद्यमान् है। यह मेरा निज का अनुभव है। भारत माता का ही नहीं, उसके द्वारा सभ्यता, तहज़ीब व सिविलिज़ेशन की ठेकेदार संसार की सब जातियों का सच्चा उद्धार भी उसी समय होगा जब आर्यावर्त की पुरानी संस्कृति जागने पर देवियों को उनके उच्चासन पर फिर से बैठाया जाएगा।'

मांस का परित्याग

महर्षि दयानन्द के सत्सङ्ग का प्रभाव मुन्शीराम

जी के जीवन पर धीरे २ बढ़ता ही गया। एक २ करके उन्होंने अपने दुर्व्यसनों का परित्याग प्रारम्भ कर दिया। ऊपर जिस घटना का उल्लेख किया गया है उसके पश्चात् मद्य का मुन्शीराम जी ने पूर्णतया परित्याग कर दिया। मांस का परित्याग उन्होंने किस प्रकार किया इसका वृत्तान्त भी बड़ा मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद है जो हम उन्हीं के अपने शब्दों में पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं। मुन्शीराम जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "एक दिन लाहौर में, होली से ४-५ दिन पहले मैं दूर से भ्रमण करता हुआ प्रातः अनुमानतः ५ बजे अनार-कली में पहुँचा। बाहर स्वच्छ वायु का सेवन करते हुए वाटिकाओं के सुन्दर दृश्य देखे थे; अनारकली में सामने से एक मनुष्य के सिर पर मांस का टोकरा दिखाई दिया। टोकरे को उठाने वाला मनुष्य बोझ के दबाव से बचने के लिये भागा जाता था और टोकरे में भेड़, बकरियों और बकरों की उधड़ी हुई खाल, बाहर लटकती हुई टांगें एक भयानक घृणित दृश्य उपस्थित कर रही थीं। न जाने क्यों उस दिन इस भीषण दृश्य ने मेरा दिल दहला दिया। ऐसा प्रतीत होता था कि वे लटकती हुई टांगे मेरे अन्दर के तिरोहित करुणरस

को अपील कर रही हैं। मैं बाल्यावस्था से ही मांसाहारी था, पिता जी क्षत्रिय के लिये मांस-भक्षण स्वाभाविक समझते थे। फिर इस आकस्मिक करुणरस का मतलब कुछ भी समझ में न आया। उस टोकरे की ओर मेरी टकटकी बँध गई। कुछ सोचता हुआ मैं खड़ा हो गया और उस समय तक टोकरे पर दृष्टि लगी रही जबतक कि वह आँखों से ओझल न होगया। तब धीरे-धीरे पैर बढ़ाते हुए चिन्ता में निमग्न रहमतखां के अहाते वाले डेरे में पहुँचा। स्नानादि नित्य-कर्मों से निवृत्त होकर सत्यार्थप्रकाश हाथ में लिया ही था कि अपना एक और कर्त्तव्य याद आया। सप्ताह में एक रात हमारे ही डेरे के एक बड़े कमरे में संगीत समाज (यूनियन क्लब) का अधिवेशन हुआ करता था जिसमें विविध विषयों पर परस्पर विचार होता था। उस रात के अधिवेशन में आरम्भिक वक्तृता मेरी थी। उसकी तय्यारी में प्रातःकाल का दृश्य भूल गया। तीसरे पहर तक कानून की पढ़ाई में लगा रहा, जिसके पश्चात् सत्यार्थप्रकाश की बारी आई। उस दिन दशम समुल्लास में से भक्ष्याभक्ष्य के विषय का आरम्भ था। ज्यों २ मांसभक्षण के दोष पढ़ता गया त्यों २ प्रातःकाल का दृश्य मूर्तिमान् होकर मेरे

समक्ष खड़ा होता गया। एक २ शब्द ध्यानपूर्वक पढ़ते-पढ़ते भोजन का समय आ पहुँचा। अपने विचार में निमग्न हाथ-पाँव धोकर मैं भी भोजनगृह में आ बैठा। अन्य खाद्य-वस्तुओं के साथ मांस भी कटोरे में आया ही था कि उसे देखकर ऐसी घृणा हुई कि कांसे के कटोरे को उठा दीवार पर फैंक मारा। कटोरा टुकड़े २ हो गया। मेरे साथी सब घबराये—हैं! हैं! क्या तरकारी में मक्खी पड़ गई? क्या था? ओ मिश्शार! कम्बख्त यह क्या किया—मैंने सबको रोक कर कहा—"मिश्शार बेचारे को कुछ मत कहो, एक आर्य के मत में मांस-भक्षण भी महापापों में से एक है। मैं मांस का अपनी थाली में रक्खा जाना सह नहीं सकता।" उस समय तो मेरे सब भाई ऐसे प्रभावित हुए कि चुप हो रहे किन्तु पीछे से कहते रहे कि कटोरा टुकड़े २ करने के स्थान में उसे मैंने केवल उठा ही क्यों न दिया। उन्हें तो मैंने कुछ उत्तर न दिया किन्तु मन में समझता था कि मैंने अपने कायरपन के कारण ऐसा किया। बचपन से पड़े हुए अभ्यास और संस्कार की बेड़ियों को शान्ति से काटने की शक्ति किन्हीं विरले बहादुरों में ही हुआ करती है। उस शाम भोजन बहुत कम कर सका। दूसरे दिन

से निरामिषभोजियों की संख्या बहुत बढ़ गई क्योंकि होशियारपुर के महाशय रामचन्द्र तथा लाला मुकुन्दराय दोनों निरामिषभोजी थे। उसके पश्चात् कभी भी मांस-भोजन की रुचि तक नहीं हुई और कुछ दिनों के पश्चात् ही मांसभक्षण से ऐसी घृणा हुई कि मेरे लिये न केवल उस पंक्ति में बैठना असह्य हो गया जिसमें मांस परोसा जाय परन्तु मांसाहारियों के चौके में खाने से भी चित्त खिन्न होने लगा।"

इस घटना से स्वाध्याय के महत्त्व का भी पता लगता है। यदि उस दिन प्रातःकाल देखे भीषण दृश्य के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश के उस भाग का मुन्शीराम जी ने स्वाध्याय न किया होता तो हमें बड़ा सन्देह है कि मांस के परित्याग का साहस उन्हें प्राप्त होता अथवा वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहते। शतरञ्ज, हुक्का आदि व्यसनों का परित्याग मुन्शीराम जी ने आर्यसमाज में प्रवेश के पश्चात् प्रधानतया श्री पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी के सत्सङ्ग के प्रभाव से किया। इस सत्सङ्ग का भी मुन्शीराम जी के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा अतः उसका थोड़ा-सा उल्लेख इस प्रसङ्ग में उचित प्रतीत होता है।

मेधावी पण्डित गुरुदत्त जी का सत्सङ्ग

पं० गुरुदत्त जी एम. ए. आर्यसमाज के एक उज्ज्वल रत्न थे। वे प्रतिभाशाली विद्वान् थे जो महर्षि दयानन्द के मृत्यु-दृश्य से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उनकी काया-पलट हो गई। जब उन्होंने देखा कि विष के प्रभाव से समस्त शरीर में भयङ्कर फोड़े-फुन्सी तथा अन्य कष्ट होते हुए भी महर्षि के मुख पर व्याकुलता का एक भी चिह्न नहीं और वे बड़े प्रेम और श्रद्धा से भगवान् से वेदमन्त्रों द्वारा प्रार्थना कर रहे हैं और उनके मुख से यह अन्तिम शब्द कि 'हे ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो। तूने अच्छी लीला की!' इत्यादि इतने प्रेम से निकले थे मानो कोई अपने मित्र को मिलने को आतुर हो और उसे मिलकर उसे प्रसन्नता हो रही हो। इन शब्दों ने पं० गुरुदत्त जी पर जादू का-सा प्रभाव किया। वे नास्तिक से आस्तिक-शिरोमणि बन गये यद्यपि महर्षि दयानन्द से एक भी बात करने का उन्हें अवसर न प्राप्त हो सका था। महर्षि के बलिदान के पश्चात् पं० गुरुदत्त जी ने उनके स्मारक के रूप में एक महाविद्यालय खुलवाने के लिये, जहां वेद-वेदाङ्ग की शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो, सब से अधिक प्रयत्न किया। मुन्शीराम जी

पर पं० गुरुदत्त जी के कुछ दिनों के सत्सङ्ग का भी बड़ा उत्तम प्रभाव हुआ। विशेषतः कुछ व्यसनों के परित्याग के अतिरिक्त स्वाध्याय में उनको विशेष प्रेम हो गया। इस विषय में उन्होंने आत्म-चरित में लिखा है कि :—

"पण्डित गुरुदत्त के थोड़े से ही सत्सङ्ग ने मेरी काया पलट दी। मुझे जालन्धर आर्यसमाज की समाप्ति के दूसरे दिन से स्वाध्याय का अभ्यास हो गया। पंडित गुरुदत्त जी की यह साक्षी मेरे लिये बहुत उत्तेजक हुई कि ऋषि दयानन्द के ग्रंथों में प्रत्येक नयी आवृत्ति पर नये भाव विदित होते हैं। जालन्धर आर्यसमाज में भी जीवन पड़ने लगा और उसके सब कार्य नियमपूर्वक होने लगे। ......प्रिय गुरुदत्त को मिलकर मुझे नया धार्मिक बल मिलता है।" इस प्रकार सत्सङ्ग और स्वाध्याय के प्रभाव से मुंशीराम जी कल्याण-मार्ग के पथिक बने और उनका जीवन उत्तरोत्तर उन्नत होता गया जैसे कि उनके जीवन की अनेक घटनाओं से पाठकों को ज्ञात हो जाएगा।

सत्य पर दृढ़ता

निम्नलिखित दो-तीन घटनाएं इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

जब मुंशीराम जी ने मुख्तारी की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कार्य प्रारम्भ करने का निश्चय किया तो अपने मुन्शी को उन्होंने कानूनी-दुकान का फटरा (साइनबोर्ड) तैयार कराने की आज्ञा दी। इस पर वे फटरा तैयार कराके लाये जिस पर उनके नाम के साथ मुख्त्यार के स्थान में 'लीगल प्रैक्टीशनर' (क़ानूनी व्यवसायी) लिखा हुआ था। इस पर मुन्शीराम जी ने अप्रसन्नता प्रकट की तो उत्तर मिला कि मैंने आपके भले के लिये ही ऐसा किया था। किन्तु मुन्शीराम जी ने उसे स्पष्ट कह दिया कि यदि इस प्रकार की कार्यवाही होगी तो उसका रास्ता दूसरी ओर होगा। इस घटना से मुन्शीराम जी की सत्य पर दृढ़ता का परिचय मिलता है। यद्यपि उनके सम्मुख 'लीगल प्रैक्टीशनर' के आकर्षक नाम का प्रलोभन था किन्तु सत्य के विरुद्ध होने के कारण उन्होंने इससे इन्कार कर दिया। दूसरी घटना इसकी अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण है अतः उनके अपने ही शब्दों में उसका उल्लेख करना हमें उचित प्रतीत होता है। वह घटना मुंशीराम जी के शब्दों में निम्नलिखित है :—

'मेरे पास एक मुंशी मुकद्दमा लाया। वही हिसाब के रु० से १०००) का साधारण दावा करना था, मैंने

वही देखी तो १०००) की बाकी पर टिकट न था, इस-लिये कह दिया कि उस साक्षी पर दावा नहीं चल सकता। दावा चलने का एक और सीधा ढंग था, वह भी साहू-कार महाशय को बतला दिया। उस समय तो साहूकार महाशय चले गये किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उसी बाकी पर अपनी ओर से टिकट लगाकर अर्ज़ी दावा लिखवा दायर करवा दिया। पहिली पेशी के दिन मेरे मुंशी से मिलकर मुख्तारनामे पर मेरे हस्ताक्षर करा लिये।

इन हस्ताक्षरों की कहानी भी बड़ी मनोरञ्जक है। यदि प्रातःकाल ही मुझ से हस्ताक्षर मांगे जाते तो मैं वही को देखना चाहता इसलिये जब मैं कचहरी के लिये बग्घी में चढ़ने लगा तो मुन्शी जी ने मुख्तारनामा पेश किया। मैंने पूछा कि वही आदि देखनी चाहिये। मुन्शी साहब बोले—हुजूर! मामूली वही-हिसाब पर १०००) का दावा है। ५०) फ़ीस देता है, २५) वसूल हो चुके हैं। सिर्फ एक पेशी का काम है।

बड़ी कचहरी से काम करके मुन्सिफ़ी में लौटा तो उसी मुकद्दमे के लिये मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। मुंसिफ़ अछरूराम साहब मेरे बड़े कृपालु थे। जवाब-दावा मेरे हाथों में देकर कहा कि मैं विवादास्पद विषय नियत कर

दूं। मुद्दालेह का जवाब-दावा पढ़कर मुझे संदेह हुआ। मैंने अपने मुवक्किल मुदई के मुँह की ओर देखा और बही का हिसाब मांगा। बस निश्चय हो गया कि मुद्दई साहेब की सब कारस्तानी है। मैंने मुंसिफ़ साहब से कह दिया कि मुकद्दमे में जालसाज़ी होने के कारण मैं उसमें पैरवी नहीं करूँगा और मुंशी को आज्ञा दी कि २५) प्राप्त किये हुए वापिस कर दे। मुंसिफ़ साहब ने अंग्रेज़ी में बहुतेरा समझाया कि इससे मेरी प्रसिद्धि उलटे प्रकार की हो जाएगी और मेरी आर्थिक दशा को हानि पहुँचेगी किन्तु मैंने एक न मानी और अपना बयान देकर घर लौट आया।'

मुन्शीराम जी ने सत्य के लिये जो दृढ़ता दिखाई उसका परिणाम कुछ समय के लिये आर्थिक दृष्टि से अवश्य उलटा हुआ। जो मुकद्दमे वाला उनके पास आने को तैयार होता अन्य वकीलों व मुख़्तारों के मुन्शी उसे यह कहकर विचलित करते कि अपने मुवक्किलों का गला घुटवाने वाले मुख़्तार के पास जाकर क्या करेगा! परिणाम यह हुआ कि मुन्शीराम जी की मासिक आमदनी ५००) से उतर कर १५०) के लगभग ही रह गई किन्तु उन्होंने इसकी कोई परवाह न की और कुछ समय

पश्चात् उनकी आमदनी बढ़ने लगी। उन्हीं दिनों जालन्धर आर्यसमाज मन्दिर में दिये मुन्शीराम जी के ओजस्वी व्याख्यान से एक सरदार इतने प्रभावित हुए कि एक बड़े मुकदमे में १०००) नियत करके ५००) नकद दे गये। ऐसे ही अन्य प्रकारों से उनकी आमदनी में वृद्धि होने लगी क्योंकि वे अपनी ओर से निश्चय करके सच्चे ही पक्ष की पैरवी करते थे। अन्त में जब उन्होंने देखा कि पूरा यत्न करने पर भी वकालत करते हुए सत्य-व्रत को पूर्णतया निभाना सम्भव नहीं तो उन्होंने वकालत को भी तिलाञ्जलि दे दी और समाज-सेवा में अपने तन, मन, धन को लगा दिया तभी वे महात्मा की पदवी से विभूषित किये गये। सत्य का दृढ़ता से पालन, पवित्र जीवन, ईश्वर-भक्ति, नियमित स्वाध्याय, सत्सङ्ग और त्याग आदि गुणों ने ही लाला मुन्शीराम जी को महात्मा मुन्शीराम बना दिया। कुमारों और युवकों को भी उनके जीवन से शिक्षा लेकर अपने जीवनों को उन्नत करने में दिन-रात तत्पर रहना चाहिये।

———

cal Reforms

३

आदर्श समाज-सुधार

इस अध्याय में हम मुन्शीराम जी के जीवन की उन घटनाओं को पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं जिनसे यह ज्ञात हो कि समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने कितना ऊंचा आदर्श जनता के सामने रक्खा था।

पर्दा और बाल्य-विवाह प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन

आर्यसमाज में प्रवेश के पश्चात् सब से पहला सुधार जिसकी ओर मुंशीराम जी का ध्यान गया वह बाल्य-विवाह की कुप्रथा का विरोध था। उनका अपना जब विवाह हुआ तो उनकी धर्मपत्नी शिवदेवी जी की आयु केवल १२ वर्ष की थी। वे उन दिनों कालेज में पढ़ते थे और जैसे कि पहले दिखाया जा चुका था पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से वे नास्तिक बन चुके थे। अंग्रेज़ी उपन्यासों को पढ़ कर उन्होंने अपनी भावी पत्नी के विषय में उसी प्रकार की कुछ कल्पनाएं मन में बना

रक्खी थीं पर इसमें उनको निराश होना पड़ा। इसके विषय में उन्होंने आत्म-चरित में लिखा है कि:—

'मैंने उसी समय (विवाह के पश्चात्) बाल-विवाह की कुप्रथा के भयङ्कर परिणाम अनुभव किये थे और इसीलिये आर्यसमाज में प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधन में बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का ख्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता (मुन्शीराम जी की आयु उस समय २२ वर्ष के लगभग थी) तो काशी से ग्रेजुएट बन कर मैं किसी अन्य ऊँची दशा में चला जाता। कम से कम यदि धर्मपत्नी की आयु १६ वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता से आंखें खोल कर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता जिसमें आगामी दो-अढ़ाई वर्ष गिरा रहा।'

मुन्शीराम जी ने न केवल बाल्य-विवाह की कुप्रथा के विरुद्ध आन्दोलन किया प्रत्युत ब्रह्मचर्यपूर्वक शिक्षा-प्रणाली के पुनरुद्धार के लिये सब से अधिक प्रयत्न उन्होंने किया। इसी के लिये उन्होंने सर्वस्व त्याग कर और शिक्षित जनता के उपहास तथा सहस्रों कष्टों को सहकर भी गुरुकुल की स्थापना की जिसका कुछ विस्तृत

वर्णन अगले अध्याय में 'आदर्श आचार्य' के रूप में उनका वर्णन करते हुए किया जाएगा।

पर्दे की प्रथा का भी उन्होंने न केवल जनता के सम्मुख व्याख्यान देकर विरोध किया किन्तु जैसे कि उनका स्वभाव था सबसे पहले उन्होंने अपनी धर्मपत्नी से पर्दा उतरवा कर उनको पढ़ाना प्रारम्भ किया जिससे कुछ ही वर्षों में वे धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय तथा सन्ध्यादि करने में प्रवृत्त होगईं।

स्त्री-शिक्षा विषयक सुधार

उन दिनों पौराणिक 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' की रट लगाते हुए कन्याओं को शिक्षा से वञ्चित रखते थे। मुन्शीराम जी ने कन्याओं की शिक्षा को आवश्यक और उचित समझ कर अपनी बड़ी पुत्री वेदकुमारी को एक ईसाइयों की कन्या-पाठशाला में प्रविष्ट करा दिया क्योंकि उस समय केवल ईसाई लोग ही कन्या-पाठशाला चलाते थे। २ कार्तिक संवत् १९४५ तदनुसार १६ अक्तूबर १८८८ को जब मुन्शीराम जी कचहरी से लौटकर घर गये तो वेदकुमारी दौड़कर आई और उनको पाठशाला में सीखा हुआ—

"इक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल ?
ईसा मेरा राम रमैया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया ॥"

यह भजन सुनाने लगी। इसको सुनकर वे चौकन्ने हुए। पूछने पर उन्हें मालूम हुआ कि उस ईसाई पुत्री पाठशाला में आर्य जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी सिखाई जाती है। उन्होंने उस समय निश्चय किया कि अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिये।

कुछ ही समय में ला० देवराज जी के साथ मिलकर मुन्शीराम जी ने कन्या-विद्यालय की स्थापना के लिये यत्न प्रारम्भ कर दिया और शीघ्र ही उस संस्था की स्थापना में वे सफल हो गये जो 'कन्या-महाविद्यालय जालन्धर' के नाम से प्रसिद्ध हुई। पीछे से जब स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अनुभव किया कि कन्या-महाविद्यालय जालन्धर आदि में दी जाने वाली शिक्षादि भी वैदिक आदर्शों के अनुकूल नहीं तो उन्होंने कन्या-गुरुकुल की स्थापना की जो अब देहरादून में सफलतापूर्वक चल रहा है।

जाति-बन्धन तोड़कर पुत्री का विवाह

समाज सुधारक के रूप में मुन्शीराम जी ने अनु-

भव किया कि हिन्दू समाज में प्रचलित जाति-भेद की प्रथा अत्यन्त हानिकारक है। इसके विरुद्ध मौखिक व लिखित रूप में आन्दोलन करने और पौराणिकों से इस विषय पर शास्त्रार्थ करने से ही वे सन्तुष्ट न रहे अपितु नवम्बर सन् १६०१ में उन्होंने अपनी पुत्री अमृतकला का विवाह जाति-बन्धन तोड़कर, डा० सुखदेव जी के साथ अनेक सम्बन्धियों और इष्टमित्रों (यहाँ तक कि कई आर्य सज्जनों के) विरोध करने पर भी करा दिया। इसी प्रकार अपने दोनों सुपुत्रों पं० हरिश्चन्द्र जी विद्यालङ्कार और पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति का विवाह भी महात्मा मुन्शीराम जी की अनुमति से जाति-बन्धन तोड़कर ही हुआ। ऐसे क्रियात्मक सुधारक हमारे देश में बहुत कम हैं। हाँ, सुधार की बातों के बनाने और व्याख्यान झाड़ने वाले तो बहुत अधिक हैं। जाति-बन्धन के निवारण पर महात्मा मुन्शीराम जी और पीछे से संन्यास लेने पर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का बहुत अधिक बल रहता था। 'जात-पांत-तोड़क-मण्डल' के वर्तमान प्रधान श्री सन्तराम जी ने उनके जाति-भेद-निवारण विषयक महत्त्वपूर्ण कार्य का वर्णन करते हुए ठीक ही लिखा है कि—

'जातिभेद जैसे भारत के महारोग पर क्रियात्मक कुठाराघात करने के कारण ही मेरे हृदय में स्वामी श्रद्धानन्द जी के लिये बहुत ऊँचा स्थान है। कारण यह कि मैं आज भी बड़े २ सामाजिक एवं राजनैतिक नेताओं में जातपांत को तोड़ने का साहस नहीं देखता। यदि कांग्रेस और आर्यसमाज ने स्वामी श्रद्धानन्द का अनुसरण किया होता तो देश के विभाजन और विध्वंस की नौबत कभी न आई होती। आज नहीं, कुछ वर्ष बाद भारतवासी अनुभव करेंगे कि उस कल्याण-मार्ग के पथिक श्रद्धानन्द ने जातिभेद पर आक्रमण करके कितना पुण्यमय और महान् कार्य किया।'

अस्पृश्यता का समूल नाश

जाति-भेद की हानिकारक प्रथा का ही, जिसका आधार जन्मगत ऊँच-नीच पर है, परिणाम अस्पृश्यता है। इसलिये जाति-भेद के प्रबल विरोधी स्वामी श्रद्धानन्द जी का अस्पृश्यता के समूल नाश के लिये दिन-रात प्रयत्न करना स्वाभाविक ही था। उन्होंने अस्पृश्यता की भावना को निर्मूल करने के लिये न केवल अनेक ओजस्वी लेख लिखे व भाषण दिये प्रत्युत सबसे बड़ा

महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि गुरुकुल में बिना किसी प्रकार के भेदभाव के जैसे अन्य जातियों के बालक लिये गये और उनका पालन किया गया वैसे ही अस्पृश्य कही जाने वाली दलित जातियों के बालकों को भी गुरुकुल में प्रविष्ट किया गया और उनको वेद-शास्त्रादि की उच्चतम शिक्षा देकर इस योग्य बनाया गया कि वे विद्यालङ्कार, वेदालङ्कारादि बन कर समाज में उच्च से उच्च स्थान प्राप्त कर सकें। लगभग ७० वर्ष की आयु में भी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने दो तीन बार सारे भारत की यात्रा की और मद्रास संस्थान जैसे कट्टर पन्थियों के गढ़ में भी अस्पृश्यता के कलङ्क को निर्मूल करने का सन्देश देकर जनता में नव-जागृति का सञ्चार कर दिया। अत्यन्त प्रभावशाली ओजस्वी भाषणों के साथ-साथ वे "Blot out the curse of Untouchability. An appeal to every son and daughter of the once great Aryan Race" अर्थात् "अस्पृश्यता के कलङ्क का समूल नाश कर दो! कभी गौरवपूर्ण आर्य जाति के प्रत्येक पुत्र और पुत्री के नाम अपील"—इस नाम की अपनी पुस्तिका की प्रतियां भी सर्वत्र वितरण करवाते जाते थे। उनकी ऐसी यात्राओं में इस जीवनी के लेखक को अनेक बार उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और उनके

इस विषयक उत्साह तथा तत्परता को देखकर वह भी आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहता था। देहली से मेरे द्वारा ११-५-१९२५ को दक्षिण भारत के आर्यों के लिये प्रेषित सन्देश में भी पूज्यपाद स्वामी जी महाराज ने जीवन को पवित्र करने के लिये आवश्यक अन्य बातों का उल्लेख करते हुये (जिनका अन्यत्र अविकल रूप से उल्लेख किया जाएगा) लिखा था कि "तुम आज एक गम्भीर प्रतिज्ञा करो कि तुम अस्वाभाविक जाति-भेद की शृङ्खलाओं को तोड़ डालोगे और वर्णाश्रम व्यवस्था को अपने जीवनों में क्रियात्मक रूप दोगे और कि तुम अपने देश से अस्पृश्यता के अभिशाप का समूलोन्मूलन कर दोगे तथा आर्यसमाज रूपी सार्वभौम मन्दिर के द्वार को तुम मत, सम्प्रदाय, जाति, रंग आदि के भेद के बिना मनुष्यमात्र के लिये खुला रक्खोगे।" ऐसा ही सन्देश स्वामी जी महाराज ने सन् १९२० में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के अमृतसर के स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय अधिवेशन की स्वागत-कारिणी समिति के अपने अध्यक्ष अभिभाषण में दिया था जो निम्न शब्दों में था :—

उस महत्त्वपूर्ण स्वागताध्यक्ष-भाषण में श्रद्धेय स्वामी जी महाराज ने कहा था :—

"लण्डन नगर में भारत की रिफार्म-स्कीम-कमेटी के सामने ईसाई-मुक्ति फौज के बूथटकर साहब ने कहा था कि भारत के ६॥ करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहियें और उसके लिये हेतु दिया था 'क्योंकि वे भारत में बृटिश गवर्नमेण्ट रूपी जहाज़ के लङ्गर हैं।' इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिये और सोचिये कि किस प्रकार आपके साढ़े छः करोड़ भाई, आपके जिगर के टुकड़े, जिन्हें आपने काटकर फेंक दिया है, किस प्रकार भारत माता के ६॥ करोड़ पुत्र एक विदेशी गवर्नमेण्ट रूपी जहाज़ के लङ्गर बन सकते हैं। मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक याचना करूँगा। इस पवित्र जातीय-मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि—आज से वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिये अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे बहिन और भाई हैं। उनकी पुत्रियां और उनके पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे। उनके गृहस्थ नरनारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे। हमारे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे। हे देवियो और सज्जन पुरुषो!

मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।"

पूज्य महात्मा गांधी जी ने इस भाषण के सम्बन्ध में 'यङ्ग इण्डिया' में ठीक ही लिखा था कि—

"स्वागत-समिति के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी का भाषण उच्चता, पवित्रता, गम्भीरता और सच्चाई का नमूना था। वक्ता के व्यक्तित्व की छाप उसमें आदि से अन्त तक लगी हुई थी। मनुष्यमात्र के प्रति उसमें सद्भावना प्रकट की गई थी।"

२० मई सन् १६२४ को मद्रास के गोखले हॉल में मर्मस्पर्शी भाषण देते हुए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कहा था कि "पुरोहित आदि के अहङ्कार के कारण आपके यहाँ ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरों का झगड़ा तो चल ही रहा था कि अब उससे भी अधिक बुरा एक झगड़ा आपके सामने खड़ा होने वाला है। यदि आपने अस्पृश्य कहे जाने वाले भाइयों के उद्धार की ओर विशेष ध्यान न दिया तो मैं आपको सचेत करता हूं कि वह दिन दूर नहीं, जब आपके वे दलित भाई, जिन्हें आप पञ्चम कहते हैं, आप से सब तरह का सम्बन्ध तोड़ देंगे। या तो सबके सब

दूसरे सम्प्रदायों में चले जायेंगे अथवा अपनी जाति ही अलग बना लेंगे। मैं स्वयं कमज़ोर, रोगी और वृद्ध होता हुआ भी सारे देश में घूम जाऊँगा, दलित भाइयों का सङ्गठन करूँगा और उनको कहूंगा कि वे हर एक ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण को स्पर्श करके वैसा ही भ्रष्ट कर दें जैसा आप उनको मानते हैं।"

पूज्य स्वामी जी के इस मर्मस्पर्शी भाषण ने पौराणिक मण्डली में खलबली मचा दी थी और विचारशील जनता में नये जीवन का सञ्चार कर दिया था।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की विशेषता समाज-सुधारक के रूप में यह थी कि वे जो कुछ औरों से करवाना चाहते थे पहले स्वयं करके दिखाते थे। दलितोद्धार के सम्बन्ध में भी उन्होंने ऐसा ही आदर्श जनता के सम्मुख उपस्थित किया था। उनकी इस विषय में सच्ची लगन का पता उस तार से लगता है जो अहमदाबाद में जून सन् १९२४ में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के अवसर पर उन्होंने महात्मा गांधी जी को दिया था। वह तार इस आशय का था कि कृपा करके अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के

हिन्दू सभासदों को जो नौकर रख सकते हैं कहा जाए कि वे अपनी व्यक्तिगत सेवाओं के लिये जो नौकर रखें उनमें एक नौकर अवश्य अछूत कहलाने वाले वर्गों में से ही हो।

जब स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कांग्रेस के द्वारा दलितोद्धार के कार्य को पूर्ण तत्परता के साथ होते न देखा तो उन्होंने इसी कार्य के लिये देहली में 'अखिल भारतीय दलितोद्धार सभा' की स्थापना की। यह प्रसन्नता की बात है कि पूज्य स्वामी जी के बलिदान के पश्चात् महात्मा गांधी जी ने अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को बहुत ज़ोर से चलाया और आर्यसमाज, कांग्रेस, हरिजन सेवक संघ इत्यादि संस्थाओं के प्रशंसनीय प्रयत्नों के फलस्वरूप अब तो भारतीय विधान में अस्पृश्यता को अपराध घोषित किया जा चुका है। निस्सन्देह अस्पृश्यता-निवारण और दलितोद्धार विषयक आन्दोलन के नेतृत्व का श्रेय महर्षि दयानन्द के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी को ही दिया जाएगा।

बाल-विधवाओं की दीन दशा का सुधार

बाल-विवाह प्रथा के विरोध के साथ ही महात्मा

मुन्शीराम जी ने और संन्यास लेने पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने बाल-विधवाओं के विवाह का आन्दोलन भी प्रारम्भ किया था। उनका कोमल हृदय बाल-विधवाओं की दयनीय दशा को देखकर द्रवित हो उठता था। मई १९२४ में जब आपने आन्ध्र प्रान्त की यात्रा करते हुए वहां के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक श्री वीरेशलिङ्गम् पन्तुलुगारु द्वारा सञ्चालित विधवाश्रम का निरीक्षण किया तो उनके मुख से ये शब्द निकले कि "भगवान् की सृष्टि में इन कोमल फूलों के प्रति हिन्दू समाज ने बहुत बड़ा पाप किया है। उसको आज नहीं तो कल इस पाप का प्रायश्चित् करना ही होगा। यह सच है जहां देवियों का सन्मान होता है, वहां ही दिव्यगुणों का विकास सम्भव है।"

'विधवा-विवाह सहायक सभा' लाहौर की प्रार्थना पर श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज एक वर्ष विधवा-विवाह सम्मेलन के प्रधान भी बने थे।

निर्भयता की मूर्ति

आदर्श समाज-सुधारक में आत्मविश्वास के अतिरिक्त निर्भयता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह निर्भयता

सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अपना मित्र और सहायक समझने तथा आत्मा की अमरता पर दृढ़ विश्वास रखने से उत्पन्न होती है। महात्मा मुन्शीराम जी और स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज में ये दोनों बातें पूर्णतया विद्यमान थीं, इसलिये वे निर्भयता की मूर्ति बन गये थे। उनकी निर्भयता के वैसे तो सैकड़ों उदाहरण विद्यमान हैं किन्तु दो घटनाओं का उल्लेख करना ही यहां पर्याप्त है। स्वामी श्रद्धानन्द जी सेवाव्रती महात्मा थे। जब सन् १९१८ में गढ़वाल में अकाल पड़ा तो अकालपीड़ितों की सहायतार्थ स्वामीजी ने भारत सेवा समिति के साथ मिलकर सङ्गठित कार्य प्रारम्भ किया और गुरुकुल काङ्गड़ी के ब्रह्मचारियों को इस सेवा-कार्य के लिये अपने पास बुलवा लिया। इस जीवनी का लेखक उस समय गुरुकुल की द्वादश श्रेणी में पढ़ता था। उसे अपने अनेक सहपाठियों के साथ पूज्य आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी की अध्यक्षता में गढ़वाल में सेवा-कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय हम लोगों ने पूज्य स्वामीजी के हृदय की कोमलता और विशालता को भलीभांति अनुभव किया। कई बार वे हमारे साथ १८–२० मील भी पैदल चले जाते थे ताकि दुर्भिक्ष-

पीड़ितों की वास्तविक अवस्था का पता लगाकर उनकी सहायता की जा सके। उन्हीं दिनों की यह घटना है जिसका उल्लेख उनकी निर्भयता को सूचित करने के लिये यहां किया जा रहा है।

'सद्धर्म प्रचारक' में किसी आर्य स्वयंसेवक ने एक लेख गढ़वालियों की सामाजिक कुप्रथाओं की आलोचना में निकाला। इसे लेकर कुछ स्वार्थियों ने भोली-भाली अशिक्षित जनता को आर्यों के नेता स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के विरुद्ध भड़का दिया। गढ़वाल की राजधानी में एक बहिष्कार सभा की आयोजना की गई। स्वामीजी का सिर काट लेने की धमकियां दी जाने लगीं। सभा के दिन प्रातः स्वामीजी दुर्भिक्षपीड़ित सहायतार्थ दौरे से लौट रहे थे कि पौड़ी के कुछ सज्जन दो मील की दूरी पर ही जाकर आपसे मिले और उन्होंने नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि आप यहीं से लौट जाएँ। पौड़ी में आपके जाने से बड़ा अनर्थ हो जाएगा। पर स्वामीजी इन बातों से कहां भयभीत होने वाले थे। वे श्री वेंकटेशनारायण तिवारी तथा श्रीराम जी बाजपेयी इत्यादि प्रतिष्ठित सज्जनों के मना करने पर भी शाम की सभा के लिये नियत समय ८ बजे से १५ मिनट पहले ही

जाकर सभापति के आसन के समीप जा बैठे। उनकी भव्य शान्त मूर्ति को देखते हुए वहां के वायुमण्डल में अद्भुत परिवर्त्तन हो गया। स्वामीजी के साहस, धैर्य और आत्मविश्वास की चारों ओर प्रशंसा होने लगी। किसी को उनके विरोध में कुछ कहने का साहस ही नहीं हुआ।

गुर्खों की संगीनों के आगे छाती खोलना

दूसरी घटना जिसका इस प्रसंग में उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है वह ३० मार्च सन् १६१६ की है। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज उन दिनों महात्मा गांधीजी के द्वारा प्रचर्तित रौलट-एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह आन्दोलन का देहली में नेतृत्व कर रहे थे। ३० मार्च को देहली में पूर्ण हड़ताल थी। मध्यान्ह के १२ बजे तक स्वामी श्रद्धानन्द जी देहली नगर का चक्कर लगाकर अपने निवास-स्थान पर पहुंचे ही थे कि स्टेशन पर गोली चलने का समाचार आया। वे तुरन्त स्टेशन पर पहुँचे और वहां एकत्रित ३–४ हज़ार आदमियों को कम्पनी बाग़ में सभा के स्थान पर ले गये। सभा में लगभग २५ हज़ार की उपस्थिति थी। आप भाषण दे रहे थे कि

चांदनी चौक के घंटाघर पर भी गोली चलने और १०-१२ व्यक्तियों के घायल होने का समाचार आया। उत्तेजित जनता को स्वामीजी ने किसी प्रकार शान्त रक्खा। सेना ने आकर एक बार सारी सभा को घेर लिया। फिर चीफ़-कमिश्नर भी कुछ घुड़-सवारों के साथ आए। मशीन-गनें भी लाकर खड़ी कर दी गईं। स्वामीजी ने चीफ़-कमिश्नर से कह दिया कि यदि आप के आदमियों ने लोगों को उत्तेजित किया तो मैं शान्ति-रक्षा का ज़िम्मेदार नहीं हूँ, अन्यथा शान्ति भंग न होने देने का सब उत्तरदायित्व मेरे पर है। ऐसी उत्तेजित जनता को शान्त रखना सचमुच स्वामीजी का ही काम था। अब ४० हज़ार का विशाल जनसमूह आपके पीछे-पीछे चला आ रहा था। घंटाघर पर गुरखे सिपाही रास्ते से हटकर एक ओर पंक्ति बांधकर खड़े हो गये। लोगों ने समझा कि हमारे लिये रास्ता छोड़ा गया है किन्तु वहां पहुँचते ही बन्दूक़ दागी गई। लोगों में बड़ी बेचैनी और खलबली मच गई। जनता को वहाँ ही खड़ा रहने का आदेश देकर स्वामीजी शान्त जनता पर बन्दूक दागने का कारण जानने के लिये गुरखों की ओर बढ़े। तुरन्त दो किरचें स्वामीजी की छाती पर बढ़े

घमण्ड में और धृष्टता के साथ यह कहते हुए गुरखों ने तान दीं कि तुमको छेद देंगे। वे शान्ति से उनके सामने खड़े हो गये और उन्होंने गुरखों से कहा, "मैं खड़ा हूँ, गोली मारो।" इतने में ही ८-१० और किरचें स्वामीजी की छाती पर तान दी गईं और वैसी ही धृष्टतापूर्ण धमकियाँ दी जाने लगीं। अब जनता के लिये शान्त रहना असम्भव हो गया, किन्तु उन्होंने हाथ के इशारे से सत्याग्रह-व्रत का स्मरण कराते हुए लोगों को शान्त किया। लोग उत्तेजित होकर उस समय बार-बार यही कह रहे थे कि हमें मरने दीजिये, हमें मरने दीजिये, आप नहीं। लगभग ३ मिनट तक किरचें इसी प्रकार स्वामीजी की छाती की ओर तनी रहीं जब एक घुड़सवार अंग्रेज़ (सी. आई. डी. पुलिस के मि. औंर्ड) आया और उसने पुलिस के आदमी से पूछा कि क्या गोली चलाने की उसने आज्ञा दी थी? स्वामी जी ने उस अंग्रेज़ अफ़सर से पूछा कि क्या आपने गोली चलाने का शब्द सुना था, जिसपर उसने यह कह कर टालमटोल की कि मैं जाँच कर रहा हूँ।

स्वामी जी लोगों के साथ आगे चल पड़े। एक गुर्खा अपनी खुकरी इधर-उधर घुमाते और चमकाते हुए

उनके पास आया पर लोगों के उपहास करने पर वह बिना उसका प्रयोग किये लौट गया। इस प्रकार वह लाल अक्षरों में लिखी जाने वाली लाल घटना स्वामी जी की निर्भयता के कारण टल गई। सत्याग्रह के इतिहास में स्वामी श्रद्धानन्द जी के निर्भयता का उज्ज्वल प्रमाण रूप इस घटना का सदा स्वर्णाक्षरों में उल्लेख किया जाएगा।

चरित्र-शुद्धि पर बल

समाज-सुधारक के रूप में महात्मा मुन्शीराम जी (व स्वामी श्रद्धानन्द जी) की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे चरित्र-शुद्धि पर अत्यधिक बल देते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि चरित्र-शुद्धि, सच्चरित्रता और ब्रह्मचर्य के आधार पर ही समाज और राष्ट्र की वास्तविक उन्नति हो सकती है। इसलिये जहां कहीं वे इस विषय में कोई त्रुटि देखते थे उसका निर्भयता से और निस्संकोच खण्डन करते थे। वैसे तो इसके सैंकड़ों उद्धरण उनके भाषणों व लेखों से दिये जा सकते हैं पर निम्नलिखित टिप्पणी, जो सम्वत् १६६८ में लाहौर के रायबहादुर रामशरणदास के पुत्र के यज्ञोपवीत संस्कार

में कराये गए वेश्या-नृत्य के सम्बन्ध में 'सद्धर्म प्रचारक' में महात्मा मुन्शीराम ने दी थी, विशेष उल्लेखनीय है। उसके निमन्त्रणपत्र पर 'ओ३म्' शब्द लिखा हुआ था। ओ३म् जैसे पवित्र शब्द के साथ वेश्या-नृत्य जैसे अधर्म कर्म मिलाने वाले को उस लेख में विगर्हणीय पुरुष बतलाते हुए उसमें सम्मिलित आर्य पुरुषों के विषय में कहा गया था कि :—

"जो पुराने संस्कारों या लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर अपने आत्मा और धर्म की कुछ भी कीमत नहीं समझते, उनको उचित यह है कि वे अपने आपको धार्मिक व आर्य कहना छोड़ दें। जो पुरुष अपने को संसार की बेहूदगियों से परे नहीं रख सकते, जो मित्र को पाप करते देख कर उसे रोकना तो दूर रहा उसके पाप में मिल जाते हैं, उन्हें किसी धार्मिक संस्था के नेता होने का अधिकार नहीं।" जनता को सम्बोधित करते हुए उस टिप्पणी में महात्मा जी ने लिखा था :—

"जिस पंजाब में विगत वर्ष की प्रदर्शनी के समय नाच कराने का किसी को साहस नहीं हुआ था, जो पंजाब समाज-संशोधन तथा धर्म-प्रेम के अन्दर सारे

भारतवर्ष में अग्रणी समझा जाता है, जो पंजाब आर्य-समाज का केन्द्रस्थल है, उस पञ्जाब के हिन्दुओं के नेता खुल्लमखुल्ला ऐसे सामाजिक पाप करें और पञ्जाब सहता जाए, यह कैसे आश्चर्य की बात है ! जिस आर्य-समाज ने व्यक्तिगत आचार को ही सामाजिक भलाई का साधन समझा हुआ है, अपने आपको उस आर्यसमाज के सभासद् कहने वाले लोग ऐसे २ लोक-निन्दित और आचार-गर्हित कामों में खुल्लमखुल्ला प्रवृत्त हों और आर्य लोग मौन साधे रहें, यह कैसी विचित्र बात है ! उन लोगों से जो अपने धार्मिक उत्तरदायित्व को न समझ कर ऐसे २ कार्यों के करने से रुक नहीं सकते, हमारी प्रार्थना है कि वे अपने आपको आर्यसमाज जैसी पवित्र संस्थाओं से पृथक् कर लें ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे चरित्र-नायक का चरित्र-शुद्धि पर कितना बल था और इसकी उपेक्षा करने वाले व्यक्तियों की, चाहे वे सांसारिक दृष्टि से कितने भी प्रतिष्ठित क्यों न समझे जाते हों, वे कितनी निर्भयता से भर्त्सना भाषण व लेखादि द्वारा करते थे । वस्तुतः उस समय प्रचलित शिक्षापद्धति में चरित्र-शुद्धि और ब्रह्मचर्य की उपेक्षा तथा अन्य अनेक त्रुटियों को अनुभव

करते हुए ही उन्होंने गुरुकुल खोलने का विचार किया था तथा गुरुकुल की स्थापना के पश्चात् वे कैसे आदर्श आचार्य के रूप में रहे थे इसको हम अगले अध्याय में दिखायेंगे। युवकों को भी अपने अन्दर स्वामी श्रद्धानन्द जी में समाज-सुधारक के रूप में पाये जाने वाले उत्तम गुणों और भावों को धारण करने का सदा प्रयत्न करना चाहिये।

४

आदर्श आचार्य के रूप में

श्री मुन्शीराम जी का प्रारम्भिक जीवन अनेक त्रुटियों और व्यसनों से पूर्ण था इस बात को प्रथम अध्याय में संक्षेप से दिखाया जा चुका है। सदाचारादि विषयक उन त्रुटियों और मद्य, मांस, हुक्का, शतरंज आदि दुर्व्यसनों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व भी उस समय की प्रचलित शिक्षा पद्धति पर था। मुन्शीराम जी को जब महर्षि दयानन्द के सत्सङ्ग का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उनके आन्तरिक नेत्र खुलने लगे तो उन्होंने ब्रह्मचर्य की महिमा को अधिकाधिक अनुभव करना प्रारम्भ किया। सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्य के स्वाध्याय भी इसमें विशेष रूप से सहायक हुए। उन्होंने एक बार हम ब्रह्मचारियों को उपदेश में बताया था कि उनके मन में गङ्गा नदी के तट और हिमालय पर्वत की उपत्यका में गुरुकुल की स्थापना का विचार यजुर्वेद अ. २६ के "उपह्वरे च गिरीणां, सङ्गमे च नदीनाम्। धियाविप्रो अजायत॥" इस मन्त्र के ऋषि दयानन्दकृत भाष्य को देखने पर उत्पन्न हुआ था

जिसमें बताया गया है कि जो मनुष्य पर्वतों के समीप और नदियों के मेल में योगाभ्यास से ईश्वर की और विचार से विद्या की उपासना करे वह उत्तम बुद्धि वा कर्म से युक्त विचारशील बुद्धिमान् होता है। मुन्शीराम जी वर्तमान शिक्षा-पद्धति की बुराइयों से भली भांति परिचित थे। कुछ समय तक उन्होंने आशा कर रक्खी थी कि दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज उन त्रुटियों को दूर कर सकेगा, किन्तु उनकी यह आशा निराशा में परिणत हो गई। तब उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र द्वारा (जो उन्होंने वैदिक धर्म का सन्देश देने के लिये निकाला था और जिसे बहुत सी हानि सहकर भी उन्होंने उर्दू से आर्य-भाषा (हिन्दी) में परिणत कर दिया था) गुरुकुल की स्थापना विषयक आन्दोलन प्रारम्भ किया। ८ आषाढ़ सम्वत् १६५३ के अङ्क में 'सन्तान को आर्य क्योंकर बना सकते हैं?' इस शीर्षक के लेख में सब से पहले उन्होंने गुरुकुल की स्थापना विषयक स्पष्ट प्रस्ताव आर्य-जनता के सन्मुख रक्खा। इसके सम्बन्ध में आन्दोलन महात्मा मुन्शीराम ने भाषणों और लेखों द्वारा जारी रक्खा और अनेक आर्य सज्जनों का समर्थन भी उनको प्राप्त हुआ। अन्त को ३ अक्तूबर १६६७ की रात को

श्री गोविन्दपुर (पंजाब) आर्यसमाज के उत्सव पर आर्य भाइयों की एक सभा हुई। इसमें श्री मुंशीराम जी, रामभजदत्त जी चौधरी, सीताराम जी लाहौर निवासी, मुन्शी मुकुन्दपुरी जी, श्री गोविन्दपुरी आदि सज्जनों ने भाग लिया और सर्व-सम्मति से निश्चय किया कि "आर्य पुरुषों की यह कान्फ्रेंस श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा पञ्जाब की सेवा में यह निवेदन करना अत्यन्त आवश्यक समझती है कि गुरुकुल शीघ्र ही खोला जाए।" इस प्रस्ताव को सभा के पास भेजने का अधिकार मुंशीराम को दिया गया। प्रतिनिधि सभा के उस समय के मन्त्री श्री जयचन्द्र जी ने यह विचार उपस्थित किया कि गुरुकुल खोलने का आन्दोलन करने के लिये १५-२० आर्य पुरुषों की एक कमेटी बनाई जाए और डेपुटेशन द्वारा २०-२५ हज़ार रुपया जमा किया जाए।

२६ नवम्बर सन् १८९८ के स्मरणीय अधिवेशन में पंजाब आर्य-प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल खोलने और ऋषि दयानन्द के अधूरे वेदभाष्य को पूरा करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकृत किये और निश्चय किया कि दोनों कार्यों के लिये आठ २ हज़ार रुपया जमा होने पर ये काम शुरू कर दिये जाएंगे। गुरुकुल की योजना

तैयार करने का काम मुंशीराम जी के सुपुर्द किया गया।

आपने शीघ्र ही योजना सभा को सौंप दी। उन्होंने आषाढ़, सम्वत् १९५६, तदनुसार अगस्त १८९८ के 'सद्धर्म प्रचारक' में यह घोषणा कर दी कि जब तक गुरुकुल के लिये ३० हज़ार रुपये इकट्ठे न कर लेंगे तब तक घर में पैर न रक्खेंगे।

इस प्रकार की भीष्म प्रतिज्ञा महात्मा मुंशीराम जी के दृढ़ अध्यवसाय की सूचक थी। २६ अगस्त सन् १८९८ को महात्मा जी इस भीष्म प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये निकल पड़े। परिस्थिति बड़ी प्रतिकूल थी। चारों ओर दुर्भिक्ष फैला हुआ था। गुरुकुल के विषय में अनेक प्रकार के अशुद्ध विचार स्वार्थी लोगों ने फैला रक्खे थे। उस समय के शिक्षित इस विचार का ही उपहास करते थे और कहते थे कि कौन पागल माता-पिता अपने हृदय के टुकड़ों को १४-१५ वर्ष के लिये अपने से अलग करके जंगल में भेजेंगे? वहां के जंगली स्नातकों को पूछेगा ही कौन? वे किस तरह अपना पेट भरेंगे इत्यादि।

परिस्थिति की प्रतिकूलता से विचलित होना महात्मा मुन्शीराम जी के स्वभाव में ही न था। वे अपनी धुन

के पक्के थे। रात-दिन प्रयत्न करके कुछ ही महीनों में उन्होंने न केवल प्रतिज्ञानुसार ३० हज़ार की बल्कि ४० हज़ार की राशि एकत्रित कर ली। ८ अप्रैल सन् १६०० तक यह ४- हज़ार की राशि एकत्रित होने पर लाहौर आर्यसमाज में एक बड़ा उत्सव मनाया गया। श्री मुन्शीराम जी का जलूस निकाला गया और समाज-मन्दिर में उनका अभिनन्दन किया गया। एक उच्च ध्येय की पूर्ति के लिये सर्वस्व का त्याग करने वाले मुन्शीराम जी को महात्मा की पदवी से विभूषित किया गया। जो गुरुकुल का विचार पागलपन का समझा जाता था अब वह शीघ्र ही मूर्तरूप लेता दिखाई देने लगा और विचारशील जनता का सक्रिय सहयोग भी उसे शनैः २ प्राप्त होने लगा। महात्मा मुन्शीराम जी ने गुरुकुल स्थापनार्थ वकालत का परित्याग तो कर ही दिया था। उन्होंने अपने दोनों पुत्र हरिश्चन्द्र और इन्द्र को सबसे पूर्व गुरुकुल में पढ़ने के लिये भेजा। प्रथम वर्ष ही संवत् १६५६ में अपना समस्त पुस्तकालय गुरुकुल के लिये अर्पित कर दिया। संवत् १६६४ में लाहौर आर्यसमाज के तीसवें वार्षिकोत्सव पर 'सद्धर्म-प्रचारक प्रेस' भी, जिसकी क़ीमत उस समय ८ हज़ार से कम न थी,

उन्होंने गुरुकुल के चरणों पर चढ़ा दिया। ३० हज़ार से अधिक रुपया लगाकर बनाई हुई जालन्धर की कोठी भी उन्होंने संवत् १९६८ में गुरुकुल के दसवें वार्षिकोत्सव पर गुरुकुल को अर्पित कर दी। इसलिये यदि यह कहा जाय कि महात्मा मुन्शीराम जी ने सचमुच अपना तन-मन-धन अथवा सर्वस्व गुरुकुल को अर्पित कर दिया तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

उनके इस सर्वमेधयज्ञ का प्रभाव अन्यों पर पड़ना भी स्वाभाविक ही था। नजीबाबाद के रईस चौधरी मुंशी अमनसिंह जी ने लगभग उसी स्थान पर जो महात्मा मुन्शीराम जी को विशेष रूप से पसन्द आया था अपना काङ्गड़ी ग्राम और उसके आसपास की सब १२०० बीघा भूमि गुरुकुल को अर्पित करके अपने को सदा के लिये अमर कर दिया। जब-जब गुरुकुल काङ्गड़ी का नाम लिया जाएगा उसके लिये १२०० बीघा भूमि का दान देने वाले स्वर्गीय मुंशी अमनसिंह जी का नाम भी अवश्य लिया जाएगा। २२ अक्तूबर सन् १९०१ को पञ्जाब प्रतिनिधि सभा में यह अन्तिम निश्चय किया गया कि चौधरी मुंशी अमनसिंह जी की उदारता के लिये उनको धन्यवाद दिया जाए और उनकी दी हुई भूमि में मकान

आदि बनाकर होली की छुट्टियों में २१, २२, २३ और २४ मार्च सन् १६०२ को गुरुकुल का उद्घाटनोत्सव किया जाए। फाल्गुन बदी १० संवत् १६५८ (२ मार्च सन् १६०२) को ३४ ब्रह्मचारी गुजरांवाला से आचार्य पण्डित गङ्गादत्त जी के साथ हरिद्वार पहुँच गये। कुछ थोड़ी सी झोंपड़ियों में काम आरम्भ कर दिया गया। तब सचमुच यह घना जङ्गल था जहां हिंस्र-जन्तु विचरते और दहाड़ते रहते थे। ऐसे स्थान को साफ़ कराकर उसे गुरुकुल के योग्य बनाना और ब्रह्मचारियों में निर्भयता का अद्भुत सञ्चार कर देना यह महात्मा मुन्शीराम जी का ही काम था। गुरुकुल का उद्घाटनोत्सव २१, २२, २३ और २४ मार्च को हुआ। ४५ ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ-संस्कार हुआ। ६०० रु० भिक्षा में प्राप्त हुए। धर्मवीर स्वर्गीय पण्डित लेखराम जी की धर्मपत्नी ने २०००) दान में दिये। मुंशी अमनसिंह जी ने १२०० बीघा भूमि के अतिरिक्त ११०००) भी गुरुकुलार्थ दान दिये। इस प्रकार उस गुरुकुल की स्थापना हुई जो अब सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय का रूप धारण करके सैंकड़ों सुयोग्य स्नातकों को समाज और देश-सेवार्थ विस्तृत कार्यक्षेत्र में भेज चुका है। 'जो

बोले वह कुण्डा खोले' इस कहावत के अनुसार गुरुकुल के प्रवर्तक महात्मा मुन्शीराम जी को ही आचार्य और मुख्याधिष्ठाता नियत किया गया। उन्होंने अपने कर्त्तव्य का कितनी उत्तमता से पालन किया, इसके हम विद्यार्थी, जिन्हें उनके पवित्र चरणों में बैठकर विद्याभ्यास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, साक्षी हैं। मैं तो अपने अनुभव के आधार पर निस्सङ्कोच कह सकता हूँ कि वे हमारे लिये पिता, माता, आचार्य सब-कुछ थे। जब मुन्शीराम जी ३५-३६ वर्ष के थे उनकी पतिव्रता धर्म-पत्नी श्रीमती शिवदेवी जी का ३० अगस्त सन् १८८१ में देहावसान हुआ था जिन्होंने मरते समय अपनी अन्तिम इच्छा इस आशय के शब्दों में उनके सामने रक्खी थी कि "बाबूजी! मैं अब चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझसे अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जाएगी परन्तु इन बच्चों को कभी मत भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करो।"

इस पत्र का उल्लेख करते हुए हमारे चरित्रनायक ने अपने आत्मचरित में लिखा था कि "वे वाक्य मेरे हृदय पर अङ्कित हो गये। सब बच्चों को सुलाकर मैंने १ घण्टे तक परमात्मा से बल के लिये प्रार्थना की और

यह दृढ़ व्रत धारण किया कि बच्चों के लिये माता का स्थान भी मैं ही पूरा करूँगा। यह मेरे वर्तमान बच्चे ही बता सकते हैं कि मैंने अपने इस सङ्कल्प को कहां तक पूरा किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द के उपदेशों और वैदिक धर्म के आदेशों ने सम्बन्धियों, मित्रों और हितचिन्तकों के, सामने धरे प्रलोभनों से मुझे बचाया, परन्तु देवी के अन्तिम सन्देश ने मेरे अन्दर मातृ-भाव का संचार करके मुझे इस योग्य बना दिया था कि मैं गुरुकुल का आचार्य बन सकूँ, जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल आचार्य को माता और पिता दोनों का स्थान पूरा करना पड़ता है।"

शिष्यों का वैयक्तिक अनुभव

मुझे कई वर्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के आचार्यत्व में विद्याध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हम विद्यार्थी उनमें न केवल पिता के स्नेह का अनुभव करते थे बल्कि स्नेहमयी माता की ममता भी उनमें पाते थे। उनको दिन-रात विद्यार्थियों की ही उन्नति की चिन्ता रहती थी। जब ब्रह्मचारी 'अधिकारी' परीक्षा उत्तीर्ण करके महाविद्यालय में प्रवेश करते थे तो

यह जानते हुए कि वह समय (१६ से २० वर्ष तक का) अत्यन्त भयानक समय है यदि विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य विषयक मार्ग-प्रदर्शन तब प्राप्त न हो तो उनका जीवन बिगड़ने का डर रहता है। अतएव वे ब्रह्मचर्य विषयक सब शिक्षाएँ स्पष्टरूप से दिया करते थे। उनके ये उपदेश हम सब के लिये सदा मार्ग-दर्शक रहे। दिन और रात उनके द्वार हमारे लिये सदा खुले रहते थे। उनके आचार्यत्व का निम्नलिखित वर्णन इतना यथार्थ और हम सब का अनुभव सिद्ध है कि उसे उन्हीं शब्दों में उद्धृत करना ही मुझे उचित प्रतीत होता है।

गुरुकुल काङ्गड़ी के सुयोग्य स्नातक (जो बहुत वर्षों तक गुरुकुल में वेदोपाध्याय रहे) विद्यामार्तण्ड पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार ने आचार्य श्रद्धानन्द का निम्न यथार्थ वर्णन किया है:—

"आचार्य श्रद्धानन्द गुरुकुल-रूपी वाटिका का एक परिश्रमी माली था। उसने एक-एक पेड़ चुनकर उसमें लगाया था।......आचार्य श्रद्धानन्द को यह गुरुकुल-बाग बहुत ही प्यारा था।......वह एक दिन भी व्यर्थ गुरुकुल से बाहर रहना नहीं चाहता था। गुरुकुल से बाहर वह जितने दिन भी रहता था, उन दिनों भी पत्रों द्वारा हर रोज़ गुरुकुल में परामर्श भेजा करता था और

गुरुकुल से खबरें मंगवाता रहता था, ताकि गुरुकुल के दैनिक समाचारों का उसे ज्ञान रहे। आचार्य श्रद्धानन्द को गुरुकुल की सच्ची धुन थी, सच्ची लगन थी।...... आचार्य श्रद्धानन्द अपने ब्रह्मचारियों को अपने सामने व्यायाम कराता था। ब्रह्मचारियों के प्रातः, दोपहर और रात्रि के भोजन के समय वह प्रायः मौजूद रहता था और देखा करता था कि भोजन क्या बना है, कौन-कौन ब्रह्मचारी रुचि से भोजन करते हैं और कौन नहीं। इसमें वह बहुत आनन्द अनुभव करता था।...... आचार्य श्रद्धानन्द रात-दिन इस बाग के पौदों की रक्षा के लिये सदा चक्कर लगाता नज़र आता था। चलती-फिरती उसकी दिव्यमूर्ति और उसके अन्दर प्रेम का बहता हुआ अगाध स्रोत ब्रह्मचारियों को अपनी तरफ़ आकर्षित कर लेने में जादू का सा काम करता था। आचार्य श्रद्धानन्द ब्रह्मचारियों के सो जाने के पश्चात् सोया करता था और ब्रह्मचारियों के प्रातः उठने से पूर्व ही जाग जाया करता था। वह ब्रह्मचारियों और गुरुकुल की रक्षा के निमित्त रात में एक या दो बार निद्रादेवी की सुखमयी गोद का निरादर कर सोते हुए ब्रह्मचारियों का तथा बाकी गुरुकुल का निरीक्षण किया करता था।

सर्दियों, गर्मियों में आचार्य श्रद्धानन्द की यह प्रथा सदा दृष्टिगोचर होती थी। रात के समय ब्रह्मचारियों पर कपड़ा उढ़ाना और नैतिक दृष्टि से भी उनकी रक्षा करना इस आचार्य-पिता का विशेष कार्य था। आचार्य श्रद्धानंद को ब्रह्मचारी इतने प्यारे थे कि अपराध पर भी किसी ब्रह्मचारी को गुरुकुल से अलग करना नहीं चाहता था। वह सदा यथातथा उन्हें समझाने की कोशिश करता था। अगर बाधित होकर किसी को अलग करना पड़ता था तो आचार्य श्रद्धानन्द समझा करता था कि उसके शरीर का एक अङ्ग अलग हो रहा है। हे आचार्य! तेरा आचार्यत्व धन्य हुआ, सफल हुआ। सच्चे आर्य! मेरी श्रद्धाञ्जलि को स्वीकार करो।"

मुझे निश्चय है कि प्रत्येक विद्यार्थी जिसको महात्मा मुन्शीराम जी व स्वामी श्रद्धानन्द जी के आचार्यत्व में विद्याभ्यास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था श्री पं० विश्व-नाथ जी के ऊपर उद्धृत लेख के एक २ शब्द का समर्थन करेगा। इस वर्णन में केवल एक बात का वर्णन छूट गया है और वह श्रद्धेय आचार्य श्रद्धानन्द जी का सेवाव्रत है। उसके दो उदाहरणों का यहां उल्लेख करना भी मुझे आवश्यक प्रतीत होता है उससे भी आचार्य जी

की मातृभावना का ही परिचय मिलता है। प्रथम घटना का उल्लेख पं० जनमेजय विद्यालङ्कार ने निम्न शब्दों में किया है :—

सन् १९१५ या १९१६ की बात है। मैं उस समय अष्टम श्रेणी में पढ़ता था। गुरुकुल के पुराने और अनुभवी डा० सुखदेव जी किसी कार्यवश कहीं बाहर गये हुए थे। चिकित्सालय में केवल दो कम्पौन्डर रह गये थे। अकस्मात् मेरी जांघ में एक गिलटी पैदा हुई और पक गई। उस दर्द से मैं व्याकुल था। कम्पौन्डरों ने महात्मा मुन्शीराम जी को समाचार दिया और चीरा लगाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। महात्मा जी तत्काल चिकित्सालय में आये। गिलटी को देखा, मुझे बहुत ढाढ़स बंधवाया। तत्काल एक कर्मचारी को हरिद्वार भेजा गया। हरिद्वार के सरकारी हस्पताल के सबसे बड़े डाक्टर को बुलवाया गया। शाम को डा० साहब गुरुकुल की बैल गाड़ी पर सवार होकर गंगा के तीन पुलों को पार करके, हरिद्वार से लगभग ५ मील की दूरी पर पुरानी भूमि में गुरुकुल पधारे। औपरेशन की तैयारी हुई। जिस तख्त पर मैं लेटा हुआ था, उसी पर मेरे सिराहने महात्मा जी चौकड़ी लगाकर बैठ गये। मेरा

सिर उन्होंने अपनी गोदी में अच्छी तरह रख लिया। वह उनका वास्तविक अकृत्रिम वात्सल्य था। मैं निहाल हो गया। प्रेम और वात्सल्य से परिपूर्ण वाणी से आचार्य बोले, पुत्र! घबराओ नहीं, डरो नहीं, तुम गुरुकुल के ब्रह्मचारी हो, अष्टम श्रेणी में पढ़ते हो। अभी दो-चार मिनटों में ही अच्छे हो जाओगे। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि कोई सगी माता या कोई सगा पिता भी अपने बच्चे पर स्नेह की अमृत वृष्टि इस से अधिक न कर सकेगा। मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि कभी कुल-पिता महात्मा जी की अपनी सन्तान ने भी इस से अधिक स्नेह उन से प्राप्त किया होगा। डाक्टर ने तेज चाकू से आपरेशन किया। मैं तड़प उठा, चिल्ला उठा। परन्तु एक क्षण में ही मेरा साहस दुगुना-तिगुना हो गया। कुल-पिता की गोद में पड़ा हुआ मैं उनके उत्साह-वर्धक शब्दों से और उनके अकृत्रिम स्नेहपूर्ण हृदय के मौन प्रभाव से इतना अभिभूत हो चुका था कि दर्द का विशेष अनुभव ही देर तक न हो सका। इस पापी संसार में, जहाँ सर्वत्र बनावटी प्रेम और स्वार्थ का ही बोलबाला है अब मैं जब कभी कुल-पिता के अकृत्रिम और वास्तविक तथा निःस्वार्थ स्नेह का स्मरण करता हूँ तो गद्गद्

हो जाता हूँ, स्मरणमात्र से निहाल हो जाता हूँ। उस रात को मैं सुख से सोया। जब प्रातःकाल जगा तो चिकित्सालय के भृत्य ने कहा, ब्रह्मचारी जी, आज रात भर आप तो खूब गाढ़ी नींद से सोये। महात्मा जी रात में तीन बार यहाँ आये थे और तीनों बार आपको सोते देखकर बहुत सन्तुष्ट हुए थे।

('गुरुकुल पत्रिका' पौष २००५ अङ्क)

जिनको ऐसे सहृदय आचार्य मिले हों क्यों न वे अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली समझें। आचार्यों और शिक्षकों को अपने सन्मुख, इसी आदर्श को रखना चाहिये।

दूसरी घटना जो सेवाव्रती और सेवाधर्म के शिक्षक महात्मा मुन्शीराम (जो पीछे स्वामी श्रद्धानन्द जी कहलाए) जी के विषय में मैं पाठकों के सन्मुख, गुरुकुल के एक दूसरे योग्य स्नातक पं० सोमदत्त जी विद्यालङ्कार के शब्दों में देना चाहता हूँ वह निम्न है। 'सेवाधर्म का शिक्षक' इस शीर्षक से 'सार्वदेशिक' के श्री श्रद्धानन्दाङ्क (दिसम्बर १९४२) के लिये लेख लिखते हुए उन्होंने उस मर्मस्पर्शिनी घटना का यों वर्णन किया :—

'शायद सन् १६१६ की बात है। मैं उस समय गुरुकुल में नवम श्रेणी में पढ़ता था। भोजन भण्डार से सायङ्काल का भोजन करके अपना लोटा और कौल गङ्गा से मांज कर मैं अपने आश्रम में घुसा ही था कि मेरे एक सहपाठी ने कहा—'दत्त ! तुझे मालूम हो गया न कि मेरी ड्यूटी ११ से १ बजे तक है। मैंने कहा 'क्यों क्या बात है, कैसी ड्यूटी ? मुझे तो अभी तक किसी ने कुछ नहीं बतलाया ? अरे ! पञ्चम श्रेणी के ब्रह्मचारी देवदत्त को टाइफ़ाइड हो गया है। उसकी हालत ठीक नहीं है। डा० सुखदेव जी ने उसकी सेवा के लिये आज हमारी श्रेणी की ड्यूटी लगाई है। वे दिन गुरुकुल के स्वर्गीय दिन कहे जा सकते हैं। गुरुकुल में छोटे-बड़े, ब्रह्मचारी, कर्मचारी, स्त्री-पुरुष सब मिलाकर लगभग ५०० व्यक्ति निवास करते थे। चारों तरफ़ गङ्गा, पहाड़ तथा जंगलों से घिरी हुई वह भूमि दूसरी दुनियां से बिल्कुल अलग थी। ये सब व्यक्ति, एक कुल की तरह, बल्कि यों कहना अधिक उपयुक्त होगा—एक सजीव शरीर की तरह—उस भूमि में रहते थे। महात्मा मुन्शी-राम जी उस शरीर के आत्मा थे। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अङ्ग के दुःखी और पीड़ित होने पर सारा

शरीर दुःख अनुभव करता है इसी प्रकार कुल के किसी भी व्यक्ति के, चाहे वह छोटे से छोटा कर्मचारी भी क्यों न हो, रोगी या कष्टयुत होने पर सारे कुल में चिन्ता फैल जाती थी, और सबसे अधिक तड़पन होती थी इस शरीर की आत्मा महात्मा मुन्शीराम जी को। जब भी कोई व्यक्ति, चाहे वह गुरुकुल में काम करने वाला मेहतर ही क्यों न हो, सख़्त बीमार पड़ता, कुल-पिता महात्मा मुन्शीराम जी तथा अनन्य सेवक डा० सुखदेव जी की आज्ञानुसार रोगी की सेवा के लिये ब्रह्मचारियों की ड्यूटी लगा दी जाती थी। इसी सेवाभाव को देखकर ही तो सैंकड़ो माता-पिता अपने लख़्ते-जिगर (दिल के टुकड़े) बालकों को अपनी प्यारी गोद से अलग करके उस दीवाने के हाथों में, हिंस्र जन्तुओं से आकीर्ण उस जङ्गल में निवास करने के लिये, निश्चिन्त होकर सौंप देते थे।

रात के लगभग १२॥ बजे का समय होगा। मैं रोगी ब्रह्मचारी के सिरहाने के पास एक कुर्सी पर बैठा हुआ पुस्तक पढ़ रहा था। सहसा रोगी ब्रह्मचारी के जागने से तथा कराहने की आवाज़ से मेरा ध्यान किताब से हट गया। मैंने जल्दी से पुस्तक एक ओर रख दी और रोगी के माथे पर हाथ रखकर पूछा "क्यों देव ? क्या

बात है ?" "उल्टी सी आती मालूम होती है।" रोगी ने कहा और फिर घबराहट के कारण रोने लगा। मैं नीचे पड़ी हुई चिलमची को उठाने के लिये झुका। वह पानी तथा थूक आदि से भरी हुई थी, इसलिये मैं झटपट भंगी को—जो चिकित्सालय के सामने वाले बरामदे में पड़ा सो रहा था—बुलाने के लिये चला और थोड़ी देर बाद उसे अपने साथ लेकर रोगी के पास आगया। वहाँ मैंने बड़े आश्चर्य से देखा—कुल-पिता महात्मा मुन्शी-राम जी रोगी ब्रह्मचारी के पास झुके खड़े थे, वह कै कर रहा था और वे अपने हाथ की अंजली में उसे कै करा रहे थे। रोगी बालक के कै कर चुकने के बाद उन्होंने बाहर जाकर अपने हाथ स्वच्छ किये और फिर बीमार के सिरहाने बैठकर उसका सिर सहलाने लगे। मैं ज़मीन की तरफ आंखें गड़ाये खड़ा था। वे मेरी तरफ़ देखकर बोले "तुम कहाँ चले गये थे ?" "यह कहता था मुझे कै आ रही है। चिलमची भरी पड़ी थी, इसलिये मैं उसे साफ़ कराने के लिये भंगी को बुलाने के लिये गया था।" उन्होंने कहा "तो तुम जाकर आराम करो। इसकी सेवा के लिये किसी अन्य को भेज दो। तुमसे सेवा हो चुकी।" मैं शर्म के मारे ज़मीन में गड़ा जा रहा था।

मेरा क्या कर्तव्य था यह तो मेरे गुरु ने मुझे स्वयं सेवा करके बता दिया था। वे बोले "यदि अचानक मैं न आ जाता तो उसका बिस्तरा कैसे भर जाता, क्या वह तुम्हारे या भङ्गी के आने तक प्रतीक्षा कर सकता था?" मैं चुपचाप फ़र्श की तरफ़ देखता रहा। मेरे सिर पर घड़ों पानी पड़ चुका था। मैं कुछ बोलता तो किस मुंह से? परन्तु मेरे गुरु ने मुझे कर्तव्य का ज्ञान खूब करा दिया था।

अपने गुरु महात्मा मुन्शीराम जी की इन जीवन घटनाओं को तथा कुल-पुत्रों के प्रति इस प्रकार के प्रेम-मय व्यवहार को देखकर हम कुल पुत्र चाहे भगवान् को (आत्मानुभूति न होने के कारण) "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" समझ सकते या न समझ सकते, पर अपने कुल-पिता को तो सचमुच "त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥" इसी रूप में पाया करते थे।"

इसी प्रकार की सैंकड़ों घटनाओं और साक्षियों का उल्लेख, आचार्य श्रद्धानन्द जी द्वारा समस्त आचार्यों और शिक्षकों के सन्मुख स्थापित उच्च आदर्श को दिखाने के लिये

किया जा सकता है, किन्तु विस्तारभय से इतने को ही पर्याप्त समझा गया है।

उनके ब्रह्मचारियों के साथ पितृ-मातृ-तुल्य इस विशुद्ध प्रेममय व्यवहार के सम्बन्ध में एक और छोटी सी यथार्थ घटना का उल्लेख करना यहां अनुचित न होगा। इस प्रकार की घटनायें गुरुकुल वास के समय मैं ने भी कई सुनी थीं। घटना निम्न प्रकार है:—

गुरुकुल के उत्सव पर प्रायः सभी ब्रह्मचारियों के संरक्षक उनसे मिलने के लिये गुरुकुल आते हैं। एक बार सातवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त अपने किसी भी संरक्षक के न आने से बड़ा उदास हो गया। महात्मा मुंशीराम जी ने यह समाचार मालूम होते ही उसको अपने पास बंगले पर मिलने के लिये बुलाया। ब्रह्मचारी हँसता हुआ लौटकर आया और आकर अपने साथियों से बोला—हम भी अपने पिता जी से मिल आये हैं।

यदि सभी शिक्षा-संस्थाओं के अध्यापक और आचार्य विद्यार्थियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का महात्मा मुन्शीराम जी की तरह पालन करने लग जायें तो विद्यालयों का सारा वातावरण स्वर्ग-सम आनन्ददायक बन जाए।

ऊपर सेवाधर्म-शिक्षक आचार्य के रूप में जो वर्णन किया जा चुका है उसके कारण ही पूज्य महात्मा गांधी जी द० अफ्रीका में रहते हुए महात्मा मुन्शीराम जी और गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुए। उस घटना का उल्लेख कर देना इस प्रसङ्ग में आवश्यक है। संवत् १९७० (सन् १९१३) में जब महात्मा गांधी ने अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों के लिये सत्याग्रह प्रारम्भ किया हुआ था तब गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने भोजन में कुछ कमी करके और अधिकतर हरद्वार के दूधिया बांध पर ठिठुरती सरदी में कठोर मज़दूरी करके १५००) उस धर्मयुद्ध की सहायतार्थ भेजा था। यह रुपया श्री गोपाल-कृष्ण गोखले के पास (जो इस धर्मयुद्ध के सम्बन्ध में चन्दा कर रहे थे) उस समय पहुँचा जब वे कुछ निराश तथा चिन्तित थे। कहते हैं कि वे प्रसन्नता के मारे खुशी से उछल पड़े। श्रीयुत गोखले ने २७ नवम्बर सन् १९१३ को देहली से एक पत्र में महात्मा मुन्शीराम जी को लिखा था कि—

"मुझे रेवरेण्ड ऐण्ड्रूज़ और पण्डित हरिश्चन्द्र ने बताया है कि किस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिये घी दूध छोड़कर और

साधारण कुलियों और मज़दूरों की तरह मज़दूरी करके रुपया इकट्ठा कर रहे हैं। दिल हिला देने वाले इस देश-भक्ति पूर्ण कार्य के लिये मैं उनको क्या धन्यवाद दूँ ? यह तो उनका वैसे ही अपना काम है जैसे कि आपका और मेरा है। वे इस प्रकार भारतमाता के प्रति अपने ढङ्ग से अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। फिर भी भारतमाता की सेवा के लिये त्याग और श्रद्धा का जो आदर्श उन्होंने देश के युवकों तथा वृद्धों के सामने उपस्थित किया है, उसकी अन्तःकरण से प्रशंसा किये बिना मैं नहीं रह सकता। मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा यदि आप मेरे ये भाव किसी तरह उन तक पहुंचा देंगे।"

ब्रह्मचारियों के इस त्याग और सेवाभाव ने ही महात्मा गांधी जी को महात्मा मुन्शीराम जी और गुरुकुल के प्रति आकृष्ट किया था।

२१ अक्तूबर सन् १६१४ को फोनिक्स-नेटाल से गांधी जी ने महात्मा मुन्शीराम जी को निम्नलिखित आशय का पत्र अंग्रेज़ी में लिखा था :—

"प्रिय महात्मा जी !

मि० ऐराडरूज़ ने आपके नाम और काम का मुझ

को परिचय दिया है। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैं किसी अजनबी (अपरिचित व्यक्ति) को पत्र नहीं लिख रहा। इसलिये आशा है आप मुझे आपको 'महात्मा जी' लिखने के लिये क्षमा करेंगे। मैं और मि० ऐण्डरूज़ आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुए आपके लिये इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। मि० ऐण्डरूज़ ने मुझे यह भी बताया कि आप, गुरुदेव (डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर) और मि० रुद्र से वे किस प्रकार प्रभावान्वित हुए हैं। आपके शिष्यों ने सत्याग्रहियों के लिये जो काम किया है उसका वर्णन भी उन्होंने मुझसे किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होंने खींचा है उससे मैं यह पत्र लिखते हुए अपने को गुरुकुल में बैठा हुआ समझता हूं। निस्सन्देह उन्होंने मुझे उन तीन संस्थाओं को देखने के लिये अधीर बना दिया है और मैं उन संस्थाओं के सञ्चालकों, भारत के तीन सुपूतों के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूं।

आपका—मोहनदास क० गांधी

महात्मा गांधी जी के फोनिक्स-सत्याग्रहाश्रम के विद्यार्थी जब संवत् १९७२ में भारत में आये तो महात्मा गांधी जी के आदेशानुसार वे कई मास गुरुकुल कांगड़ी

में ठहरे थे। महात्मा गांधी जी को महात्मा मुन्शीराम जी प्रति इतना आदर का भाव था कि उन्होंने गुरुकुल आने पर महात्मा मुन्शीराम जी को चरण छूकर प्रणाम किया था। उन्होंने आने से पूर्व पूना से जो पत्र महात्मा जी को लिखा था उसमें कहा था कि—

'आपके चरणों में सिर झुकाने का मैं फर्ज समझता हूं।' आपका सेवक —मोहनदास गांधी

हरद्वार आने पर महात्मा गांधी जी को अभिनन्दन-पत्र गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की ओर से समर्पित किया गया जिसमें सबसे पूर्व उस महात्मा शब्द का प्रयोग किया गया जो पीछे सर्वत्र प्रचलित हो गया। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था :—

"मैं हरद्वार केवल महात्मा (मुन्शीराम जी) जी के दर्शनों के लिये आया हूँ। मैं उनके प्रेम के लिये कृतज्ञ हूँ। मि० ऐण्डरूज़ ने मुझको भारत में अवश्य मिलने योग्य जिन तीन महापुरुषों का नाम बताया था उनमें महात्मा जी एक हैं। ब्रह्मचारियों की सहायता के लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने फोनिक्स के विद्यार्थियों के प्रति जो प्रेम दिखाया है, उसको मैं कभी नहीं भूलूँगा। मुझे अभिमान है कि महात्मा जी मुझे

भाई कहकर पुकारते हैं। मैं अपने में किसी को शिक्षा देने की योग्यता नहीं समझता, किन्तु देश के किसी भी सेवक से मैं स्वयं शिक्षा लेने का अभिलाषी हूं।"

गुरुकुल काङ्गड़ी के १४ वें वार्षिकोत्सव पर ४ चैत्र संवत् १६७२ को महात्मा गांधी जी पुनः गुरुकुल पधारे थे। उस अवसर पर अपने भाषण में उन्होंने कहा था—

"इस समय मैं महात्मा जी का बन्दा बनकर यहाँ आया हूं। महात्मा जी मेरे बड़े भाई हैं। जब मैं विदेश में था तब मेरे लड़के यहाँ रहते थे। महात्मा जी उनके पिता और ब्रह्मचारी उनके भाई थे। अब भी मेरे लड़के मुझे महात्मा जी के पितृवत् व्यवहार और ब्रह्मचारियों के भ्रातृवत् व्यवहार के विषय में प्रायः कहा करते हैं। मैंने चौदह वर्षों से देखा है कि आर्यों में स्वार्थ त्याग, शिक्षा और भारत के हित का भाव है। अतएव मैं इनका सत्सङ्ग करना चाहता हूँ।"

महात्मा गांधी जी स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रति अत्यन्त अधिक आदर का भाव रखते और उनको अपना सच्चा हितैषी तथा मार्ग-दर्शक समान मानते थे। एक पत्र में उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द जी को लिखा था 'आपका पत्र मुझको बल देता है········मेरे कार्य में

आर्थिक त्रुटि आयेगी तब आपका स्मरण अवश्य करूँगा। आश्रमवासी सब आपके आने की राह देखते हैं। अवधि बीतने पर हम सब अधीर हो जाएँगे।"

एक दूसरे पत्र में महात्मा गांधी जी ने लिखा:—

"मेरी ये आज़ीज़ी है कि थोड़े दिनों के लिये अहमदाबाद के इस आश्रम को पावन करो। आश्रमवासी आपका दर्शन कर कृतार्थ होंगे।"

इन पत्रों से महात्मा गांधी जी की महात्मा श्रद्धानन्द जी के प्रति अगाध श्रद्धा सूचित होती है जिसके वे सचमुच योग्य थे। रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने (जो पीछे से इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री बने) सन् १९१४ में गुरुकुल की अपनी यात्रा का मनोरञ्जक वर्णन करते हुए महात्मा मुन्शीराम जी के आकर्षक व्यक्तित्व का चित्रण इस आशय के शब्दों में किया था:—

"एक महान्, भव्य और शानदार मूर्ति जिसको देखते ही उसके प्रति आदर का भाव पैदा होता है, हमारे आगे हमसे मिलने आती है। आधुनिक चित्रकार ईसामसीह का चित्र तय्यार करने के लिये उसको अपने सामने रख सकता है और मध्य कालीन चित्रकार उसको देखकर सेन्टपीटर का चित्र तय्यार कर सकता है, यद्यपि

उस मछिहारे की मूर्ति की अपेक्षा यह मूर्ति अधिक भव्य और प्रभावोत्पादक है।' मि० रैम्ज़े मैक्डानल्ड का डेली क्रॉनिकल नामक अँग्रेज़ी पत्र में प्रकाशित वह लेख गुरुकुल विषयक सर्वोत्तम लेखों में से था किन्तु विस्तार-भय से उसके अविकल रूपेण उद्धृत करने के प्रलोभन का संवरण करते हुए मैं केवल निम्नलिखित अंश को उद्धृत करना ही अभी पर्याप्त समझता हूँ। उन्होंने लेख के अन्त में लिखा था कि:—

"सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में सम्मति प्रकट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहांतक मुझको मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने उस असन्तोष को कार्य में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है।"

लार्ड मैकाले की शिक्षा-विषयक जिस सम्मति का श्री रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने ऊपर उद्धृत लेखांश में निर्देश किया है उसमें कहा गया था कि 'अँग्रेज़ी शिक्षा एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करेगी जो रुधिर और रङ्ग में तो

भारतीय होंगे किन्तु जो अपनी रुचि, सम्मति, आचार-व्यवहार और बुद्धि में अंग्रेज़ होंगे, दूसरे सीधे शब्दों में उसका उद्देश्य भारतीयों को काला अंग्रेज़ बनाना था। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली उस स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के बाधक क्रियात्मक उत्तर के रूप में है। वेद-शास्त्रों और संस्कृत की उच्च शिक्षा के साथ २ इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञानादि सब विषयों की हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा उच्च-शिक्षा, ब्रह्मचर्य को शिक्षा का आधार बनाना, गुरु-शिष्य का घनिष्ठ निकट सम्बन्धी आदि इसकी अपनी विशेषताएँ हैं जो अब भी सब शिक्षा-संस्थाओं के लिये आदर्श-रूप हैं। अन्त में मैं आचार्य श्रद्धानन्द जी विषयक इस अध्याय की समाप्ति से पूर्व एक अपनी अनुभूत बात का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता। श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज हम ब्रह्मचारियों में समाज-सेवा और देश-सेवा की भावना को कूट-कूट कर भरने का सदा यत्न करते रहते थे। मैं सन् १९१८ में जब गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी की द्वादश श्रेणी में पढ़ता था और गुरुकुलीय साहित्य परिषत् का (जिसके प्रधान, आचार्य के रूप में स्वामी जी महाराज थे) उप-मन्त्री था। एक दिन परिषत् के अधिवेशन के पश्चात् श्रद्धेय

स्वामी जी ने दक्षिण-भारत की शोचनीय सामाजिक अवस्था का चित्रण करते हुए कहा कि मैं दक्षिण-भारत के प्रत्येक प्रान्त में चार २ स्नातकों को भेजना चाहता हूँ जिससे वहां की अवस्था सुधर सके। मैंने उसी दिन अपने मन में दृढ़ संकल्प कर लिया कि मैं जीवन के अनेक वर्ष दक्षिण-भारत में प्रचारार्थ लगाऊँगा। इसी दृष्टि से मैं ईसाई मत का विशेष अनुशीलन और अंग्रेज़ी में भाषण और लेख का अभ्यासादि करता रहा। स्नातक परीक्षा के पश्चात् जब श्रद्धेय आचार्य जी ने मुझे अपना भावी कार्य विषयक निश्चय जानने के लिये बुलाया (जैसा कि वे प्रत्येक स्नातक परीक्षोत्तीर्ण को बुलाया करते थे) तो मैंने लगभग २ वर्ष पूर्व की गई उनकी शुभ प्रेरणा का निर्देश करते हुए दक्षिण-भारत में कई वर्ष कार्य करने की इच्छा प्रकट की जिसको सुनकर वे गद्गद हो गये और उन्होंने हार्दिक आशीर्वाद देकर उसका यथोचित प्रबन्ध करवा दिया। उनका वरदहस्त सदा मेरे ऊपर रहा जिसके कारण मैं अपने को धन्य मानता हूं।

मैंने दक्षिण भारत में लगभग २० वर्ष निवास करके; अनुकूल परिस्थिति और सुविधाएँ न होते हुए भी जो

थोड़ी-बहुत धर्म और समाज की सेवा की है उस सब का श्रेय श्रद्धेय आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी की उस प्रेरणा को है जिसे करना वे अपना कर्तव्य समझते थे और जो सचमुच एक जादू का सा प्रभाव उत्पन्न कर कर देती थी।

उनका इस रूप में कर्तव्य-पालन भी सब शिक्षकों के लिये वस्तुतः अनुकरणीय है। विस्तार-भय से इस अध्याय को यहीं समाप्त कर अब मैं 'आदर्श कर्म-योगी नेता' के रूप में उनके जीवन पर दृष्टि-पात करूँगा, जिसे पाठक पञ्चम अध्याय में देखें और शिक्षा ग्रहण करें।

५

आदर्श कर्म-योगी नेता

पूर्व इसके कि इस अध्याय में मैं स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन पर एक आदर्श कर्म-योगी नेता के रूप में कुछ प्रकाश डालूँ मुझे उचित प्रतीत होता है कि आदर्श नेता विषयक उनकी विचारधारा को उन्हीं के अपने शब्दों में पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करूं। 'मुक्ति सोपान' नामक अपनी अन्तिम पुस्तक में श्रद्धेय स्वामी जी ने 'नेता कैसा हो' इस शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसके मुख्यांश निम्न हैं:—

त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षैः सुदक्षोविश्ववेदाः।
त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षाः॥
ऋ० मं० १। सू० ९१। मं० २॥

"हे सौम्य गुणयुक्त (नेता) आप कर्मवीरों में उत्तम कर्मवीर, बुद्धि निपुणों में भी श्रेष्ठ बुद्धि के स्वामी सब विद्याओं से विभूषित हो, तभी आप महत्त्वपूर्ण होने से वर्षणीय उत्तम सुखों की वर्षा करने वाले और कीर्तिमानों में प्रशंसित कीर्ति वाले, मनुष्यों के लिए दर्शनीय होते

हो। इसीलिए इन्हीं गुणों का आप अनुसरण करो।"

संसार नेताओं के पीछे चलता है चाहे कितनी भी स्वतन्त्रता की तान तोड़ी जाय। नेता चाहे संसार को डुबा दें और चाहे तार दें, लोग चलेंगे नेताओं के पीछे ही। तब जनसाधारण को बार २ यह समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है कि व्यक्तियों के पीछे न चलें। उनके मन में इस भाव को स्थिर करना कठिन है कि कपटी मक्कार नेता उनको डुबा देता है। जिन्हें लाठी के बिना चलना नहीं आता उन्हें यह समझाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है कि कमज़ोर लाठी टूट कर घायल भी करा सकती है। ऐसी अवस्था में बुद्धिमान् का काम क्या है? कोई निर्बल लाठी, सहारा ढूँढने वालों के सामने ही न आने दे। परमेश्वर बुद्धिमानों का भी बुद्धिमान् है। इसीलिए उसने मनुष्यों के लिए इस कठिनाई का हल भी बतला दिया। जन-साधारण को यह उपदेश देने की अपेक्षा कि वे किसी व्यक्ति विशेष के पीछे न चलें क्योंकि उनमें निर्बलताएँ हो सकती हैं, परमात्मा का उपदेश नेताओं के लिए है।

नेता कौन हो सकता है? वेद उत्तर देता है कि जिसमें नीचे लिखे गुण न हों उसे नेता बनने का साहस

नहीं करना चाहिये। प्रथम, नेता में सब सौम्य गुणों का निवास होना चाहिये। जिसका स्वभाव सरल नहीं, जो विपत्तियों को प्रसन्नता-पूर्वक सहन नहीं कर सकता, जिसे कष्ट उसके उच्चासन से डिगा सकता है, वह नेता होने के योग्य नहीं। आगे उन गुणों की गणना कर दी गई है। लोक-संग्रह का कार्य वही कर सकता है जो कर्मवीर हो। अकर्मण्यता के दासों का नेता कुछ भी नहीं कर सकता। नेता का धर्म यही नहीं कि वह कर्मवीर हो किन्तु उसका यह भी कर्तव्य है कि कर्महीन पुरुषों को कर्मशील बनावे। तब उसे सब कर्मवीरों से भी आगे चलने वाला होना चाहिए अर्थात् कर्मवीरों में भी उत्तम कर्मवीर होना चाहिए। फिर उन कर्मों का प्रयोग बुद्धि-पूर्वक होना चाहिये। नेता वह है जो कृष्ण भगवान् के शब्दों में कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद जाने। जैसे मुक्ति अनेक जन्मों के साधन से सिद्ध होती है, इसी प्रकार नेता भी अपनी आयु के बड़े भाग को बुद्धि की स्वच्छता में लगाने से ही अग्रणी बनता है। इस बुद्धि की स्वच्छता के लिये सर्व विद्याओं के सार का ज्ञान होना भी नेता के लिये आवश्यक है। विद्या और तप से आत्मा की शुद्धि होती है तभी मनुष्य परोपकार-वृत्ति में निमग्न

होकर कर्म-फल की आकांक्षा से मुक्त हो जाता है।

ज्ञान और कर्म को जो मिला देते हैं, जिनके कर्तव्य उनके मन्तव्य के अनुकूल हैं और जिनके मन्तव्यों का आश्रय सत्यज्ञान है, उनके अन्दर ही निष्काम भाव की उत्पत्ति होती है। नेता ऊपर उठता ही उस समय है जब कर्मफल की आकांक्षा का भाव उसके मन में उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। तब उसके द्वारा जन साधारण पर सुखों की वृष्टि होती है। जब तक मनुष्य के अन्दर सकाम भाव रहता है तब तक वह संसार को एक सुख पहुँचाने के पश्चात् ठहर जाता है। वह प्रतीक्षा में है कि जनता उसके परोपकार-कर्म का आदर करती है या नहीं। बस इसी स्थान में नेता की मौत है। नेता वही सच्चा है जो परोपकार का काम करके रुक न जाए। लोकैषणा से मुक्त होकर ही नेता जनता को अपने पीछे चला सकता है। कोई स्तुति करे, कोई निन्दा करे, उसे सेवा करते चले जाना है। उसे ठहरना नहीं है। वह जनता पर सुखों की वर्षा करता जाये यदि उसमें शक्ति है। और सुखों की वर्षा करने की भी शक्ति न हो तो नेता बन कर आगे कभी न बढ़ना चाहिये।

यह सत्य है कि नेता को लोकैषणा से मुक्त होना

चाहिये परन्तु कीर्ति को वह रोक नहीं सकता। फिर भी कीर्तिमानों से उसकी कीर्ति प्रशंसित होगी, क्योंकि वह कीर्ति के पीछे भागने वाला नहीं। जो लोग कीर्ति के पीछे भागते हैं कीर्ति उनको त्याग देती है, परन्तु जो कीर्ति की परवाह नहीं करते कीर्ति उनके पीछे भागती फिरती है। यह प्रशंसित कीर्ति नेता के काम में सहायक होती है क्योंकि उसकी उज्ज्वल कीर्ति को सुनकर आत्मिक तथा मानसिक भूख और पिपासा से सताये हुए जन उसकी शरण में जाते हैं और भूख और प्यास को बुझा कर शान्त हो सृष्टि में सुख का राज्य लाते हैं।

संसार के नेताओं को मन, वचन और कर्म द्वारा इस वेदाज्ञा का पालन करना चाहिये और यदि उनका जीवन तदनुसार नहीं है तो अपने किये हुए कर्मों के प्रायश्चित्त के लिये एकान्त में बैठ जाना चाहिये।

हिन्दू-सङ्गठन आन्दोलन

इस बात को अनुभव करते हुये कि सच्ची हिन्दू-मुस्लिम-एकता जिसके लिये वे राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करते हुए निरन्तर प्रयत्नशील थे हिन्दुओं के दृढ़ संगठन के बिना असम्भव है, स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने

उसके लिये विशेष आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस विषय में उन्होंने बहुत से लेख लिखे, अनेक भाषण दिये और अंग्रेज़ी में भी 'हिन्दू संगठन—सेवियर ऑफ दी डाइङ्ग रेस' इस नाम की अत्यन्त स्फूर्तिदायक पुस्तक लिखी जिसमें इसके ४ भागों पर बल दिया गया।

(१) जो लोग अज्ञान, स्वार्थ व प्रलोभनवश आर्य हिन्दू धर्म का त्याग करके अन्य मतावलम्बी हो गये हैं उनको शुद्धि-संस्कार द्वारा पुनः आर्य हिन्दू धर्म और समाज में मिला लेना।

इस कार्य के लिये स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने फर्वरी १९२३ में 'भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा' की आगरा में स्थापना की और मलकाना राजपूत आदि नवमुस्लिम दो लाख से अधिक संख्या में उनके तथा उनके अनुयायियों के प्रयत्न के फलस्वरूप शुद्ध किये गये।

अहिन्दुओं को भी जो हिन्दू धर्म और समाज में आना चाहते हैं आर्य हिन्दू धर्म में प्रसन्नतापूर्वक लिया जाये।

(२) प्राचीन आश्रम प्रणाली का पुनरुद्धार किया

जाये। २५ और १६ वर्ष की आयु से पूर्व किसी युवक और कन्या का विवाह न हो। विधुर ने यदि विवाह करना ही हो और ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने में वह असमर्थ हो तो कन्या के साथ नहीं, विधवा के साथ ही वह विवाह करे।

बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व को सर्वथा बन्द कर दिया जाए।

समस्त देश में बालकों और कन्याओं के लिये पृथक्-पृथक् गुरुकुल खोले जायें जिस से ब्रह्मचर्य प्रणाली का पुनरुद्धार हो।

(३) बाल-विधवाओं को विवाह की अनुमति निस्संकोच दी जाए और उन्हें शास्त्रीय व्यवस्थानुसार कन्या ही समझा जाए।

(४) प्राचीन आर्यों की वर्णाश्रम पद्धति का पुनरुद्धार किया जाए। वर्तमान जाति-भेद की प्रथा का जिसने हिन्दुओं को हज़ारों जाति-उपजातियों में विभक्त कर रक्खा है अन्त कर देना ही चाहिये यदि हिन्दू जाति को नाश से बचाना है। यदि हिन्दू समाज सहसा इस

सुधार के करने में असमर्थ है तो उपजातियों और तथा कथित अस्पृश्य व दलित वर्ग को ४ वर्णों में सम्मिलित कर लिया जाए। इन के अवान्तर भेद पञ्च-गौड़, पंच-द्राविड़ आदि को दूर कर दिया जाए। इनके आपस में विवाहादि में कोई प्रतिबन्ध न हों। गुण, कर्म, स्वभाव द्वारा ही किसी भी हिन्दू का वर्ण निश्चय किया जाए। ये हिन्दू संगठन के आवश्यक तत्त्व थे जिनके बिना स्वामी जी की निश्चित सम्मति थी कि हिन्दू जाति बल-शालिनी नहीं बन सकती। इस आन्दोलन के द्वारा वे इस में नवजीवन का संचार करना चाहते थे। इसमें अन्य जातियों के प्रति घृणा का कोई भाव न था। वे तो विश्वबन्धुत्व के वैदिक सिद्धान्त को मानने और उस का प्रचार करने वाले थे। उनकी उदारता और सहिष्णुता का इस से सुन्दर उदाहरण क्या हो सकता है कि सन् १९२३ में ईद के दिन हिन्दुओं को उन्होंने निम्न संदेश दिया :—

'दिल्ली के हिन्दुओ! तुम्हारा धर्म, प्रेम और उदारता की शिक्षा देता है। बकरीद पर इस बात की परीक्षा है कि तुम कहां तक धर्म को समझते हो। छोटी-मोटी बातों पर अड़ना कायरता है। तुम्हें चाहिये कि गम्भीर

रहो और मुसलमान भाइयों की सद्बुद्धि के लिये परमात्मा से प्रार्थना करो।'

सन् १९२५ में ईद के अवसर पर देहली-निवासियों को सम्बोधन करते हुए श्रद्धेय स्वामी जी ने लिखा था:—

"परमात्मा सारे संसार का पिता है। यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास है तो प्राणीमात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिए और मनुष्यमात्र को तो भाई समझना चाहिये। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिन तक अपने अमल से दोगे? आज मुसलमान स्त्री-पुरुष बाल वृद्ध युवा, नये कपड़े पहिन कर एक अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या वह श्रद्धा उन के अन्दर घर कर गई है? यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्योहारों पर हिंदुओं का दिल दुखाने की कोई बात नहीं करेंगे। मेरे हिंदू भाइयो! आज तुम्हें भी अपने भ्रातृभाव का स्पष्ट प्रमाण देना है। परमात्मा की उपासना में अपने मुसलमान भाइयों को निमग्न देख कर प्रसन्नता से उनको आशीर्वाद दो। यदि तुम्हारी आंखों के आगे कुर्बानी के लिए गोमाता जाती हो तो क्रोध और द्वेष का लेश भी अपने अन्दर न आने दो,

प्रत्युत परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करो कि वह परम पिता उनकी बुद्धियों को प्रेरणा करें जिससे स्वयं गो-माता की रक्षा का भाव उन में उत्पन्न हो। तुम्हारे भाई भूल से गोवध को स्वर्ग का साधन समझ रहे हैं। उन पर क्रुद्ध होकर और उन से घृणा दिखा कर उन्हें अधिकतर गोघात की ओर प्रवृत्त करके दूने पाप के भागी न बनो। जितना तुम सहन करोगे और मुसलमान भाइयों को प्रेम का मार्ग दिखाओगे उतना ही भगवान् तुम पर कृपा करेंगे।"

कितनी हृदय की विशालता और उदारता के सूचक हैं उस श्रद्धेय महात्मा के ये शब्द, जिसको मुसलमानों का शत्रु समझ कर मूर्ख मतान्धों ने हत्या करवा दी।

श्रद्धेय स्वामी जी द्वारा प्रवर्तित हिन्दू संगठन आन्दोलन के इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व इतना लिखना और आवश्यक है कि उपर्युक्त हिन्दू संगठन के चार तत्त्वों के अतिरिक्त स्वामी जी ने हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि के रूप में अपनाने का भी उसके साथ-साथ प्रचार किया था। सब हिन्दू एक सूत्र में पिरोये जाकर परस्पर प्रेम भावना को दृढ़ कर सकें, उसके लिये प्रथम साधन के रूप में स्वामी जी

महाराज की योजना थी कि प्रत्येक बड़े नगर में एक 'हिन्दू राष्ट्र-मन्दिर' हो जिस में २५ हज़ार के लगभग व्यक्ति बैठ सकें और वहाँ वेद, गीता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि की कथा हुआ करे। साथ ही व्यायाम द्वारा शारीरिक शक्ति को बढ़ाने के लिए वहां अखाड़ा, गतका आदि का प्रबन्ध हो। गायत्री मन्त्र प्रत्येक ऐसे राष्ट्र-मन्दिर पर खुदा हुआ हो।

स्वामी जी महाराज ने अपनी 'हिन्दू संगठन—मरणोन्मुख जाति का रक्षक'—विषयक पुस्तक में लिखा था कि यदि मेरे इन प्रस्तावों के अनुसार कार्य किया जाय तो मेरा विश्वास है कि अन्य सब सुधार भी स्वयं हो जायेंगे और प्राचीन आर्यों की सन्तान मनुष्य-मात्र को मुक्ति दिलाने के लिए आगे बढ़ेगी।

आर्य-संगठन

जीवन के अन्तिम वर्षों में स्वामी जी महाराज ने हिन्दू संगठन के स्थान पर आर्य-संगठन शब्द का प्रयोग विशेष रूप से प्रारम्भ किया था और लिखा था कि:—

''हिन्दू संगठन के स्थान पर आर्य-संगठन इसलिए लिखा है कि बिना आर्यसमाज का संगठन हुए हिन्दू

संगठन में कृतकार्यता न होगी। इसलिये पहले आर्य-समाज का ही संगठन करना होगा।"

जुलाई सन् १९२५ में आपने इसी उद्देश्य से पंजाब का विस्तृत दौरा किया था। आपने इस यात्रा में आर्यसमाज के दोनों दलों को मिलाने और उनके विरोध को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया था और इसी अभिप्राय से आप दोनों दलों के कार्यकर्त्ताओं से मिले थे। आपने इस मेल के लिये बड़े उत्तम क्रियात्मक प्रस्ताव किये थे जिनमें से २—३ मुख्यतया उल्लेखनीय हैं:—

(१) कालिज विभाग के सब आर्यसमाज अपनी जनरल सभा में यह ठहराव करें कि आर्यसमाज के सिद्धान्तानुसार मांसभक्षण वेद-विरुद्ध है।...(२) यदि और सब कुछ तय होकर भी पंजाब में दो आर्य-प्रतिनिधि सभाएँ ही बनी रहें—तब प्रादेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा का सम्बन्ध सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा के साथ हो जाए और दोनों सभाएँ प्रतिज्ञा कर लें कि पंजाब से बाहर जिन प्रान्तों में प्रतिनिधि सभाएँ नहीं हैं, वहां सिवाय सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा के अन्य कोई सभा अपने प्रचारक न भेजेगी।...इत्यादि

यह दुःख की बात है कि जब लाहौर में श्रद्धेय स्वामी जी इस पवित्र मेल-मिलाप कराने के उद्देश्य से पहुंचे तो दोनों दलों के कुछ प्रमुख नेताओं की अनुपस्थिति के कारण वे उनसे मिल न सके और अपने इस प्रशंसनीय प्रयत्न में वे सफल न हो सके किन्तु ईश्वर की कृपा से स्वामी जी महाराज जैसे मान्य महापुरुषों का प्रयत्न फल ला रहा है। प्रादेशिक सभा ने मांस-भक्षण के वेद-विरुद्ध होने की घोषणा कर दी है। उसकी अन्तरङ्ग सभा ने सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा के साथ सम्बन्ध का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया है और आशा है शीघ्र इसके सम्बन्ध में अन्य उचित कार्यवाही पूर्ण हो जाएगी और आर्य-संगठन दृढ़ बनेगा जिसके लिये श्रद्धेय स्वामी जी महाराज उत्सुक और प्रयत्नशील थे।

श्रद्धेय स्वामी जी के उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण कार्य इतने अधिक हैं कि उनका सम्पूर्ण वर्णन इस संक्षिप्त जीवनी में देना सम्भव नहीं अतः 'आदर्श कर्मयोगी नेता' विषयक इस अध्याय को विस्तारभय से अब यहीं समाप्त कर देना ही उचित प्रतीत होता है। इस अध्याय के पाठ से पाठकों को यह भलीभांति ज्ञात हो सकता

है कि श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी का कार्यक्षेत्र कितना विशाल था और किस प्रकार वे आर्य-जाति और आर्यावर्त की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये निस्स्वार्थ भाव से दिनरात प्रयत्नशील थे। उनके निम्नलिखित मुख्य गुणों का परिचय उपर्युक्त वर्णन से मिलता है जिन्हें ग्रहण करने का सब युवक-युवतियों को विशेषरूप से निश्चय करना चाहिये।

१—ईश्वर में अटल विश्वास और श्रद्धा

वास्तव में देखा जाए तो श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सम्पूर्ण जीवन में 'कल्याणमार्ग का पथिक' बनने पर श्रद्धा ओतप्रोत थी। उनका ईश्वर में अटल विश्वास था। मैं उस समय मायापुर वाटिका में गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के एक ब्रह्मचारी के रूप में उपस्थित था जब १० अप्रेल सन् १९१७ को उन्होंने विधिपूर्वक संन्यासाश्रम में प्रवेश करके 'श्रद्धानन्द' इस नाम को ग्रहण किया और अपने श्रीमुख से कहा कि 'गत २०, २५ वर्ष से ईश्वर और वेद-विषयक श्रद्धा, माता की तरह मेरी सदा रक्षा करती रही है जैसा कि महर्षि व्यास ने योगदर्शन के भाष्य में श्रद्धा के विषय में बताया है—"सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति"। इसी से

मुझे आनन्द की प्राप्ति हुई है इसलिये मैं श्रद्धानन्द इस नाम को आज से ग्रहण करता हूँ।" "यथा नाम तथा गुणाः" वाली कहावत स्वामी श्रद्धानन्द जी से बढ़कर बहुत कम कहीं चरितार्थ हुई होगी। यदि आर्यकुमारों, युवकों और अन्य सब आर्य नर-नारियों में स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज जैसी श्रद्धा उत्पन्न हो जाए तो निस्सन्देह आर्यसमाज की दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति होने लगे। दुःख की बात यही है कि लोगों ने स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की निर्भयता, साहस, कर्मशीलता, वीरता आदि गुणों की प्रशंसा की किन्तु उनकी श्रद्धा को अपनाने का प्रयत्न बहुत कम किया गया।

उनके जीवन की अनेक घटनाएं इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि किस प्रकार ईश्वर पर विश्वास और श्रद्धा के कारण वे बड़ी से बड़ी आपत्ति आने पर भी कभी विचलित नहीं हुए और आशातीत रूप से उनकी भगवान् ने रक्षा की। इस प्रसङ्ग में पौराणिकदल के एक नेता पं० गोपीनाथ द्वारा फरवरी सन् १९०१ में महात्मा मुन्शीराम जी के विरुद्ध मान-हानि के अभियोग का थोड़ा-सा वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह अभियोग पं० गोपीनाथ ने महात्मा मुन्शीराम जी

द्वारा सम्पादित सद्धर्म-प्रचारक में प्रकाशित (किन्तु उन द्वारा लिखित नहीं) कुछ लेखों के आधार पर उन पर चलाया था। इन लोगों में पं० गोपीनाथ पर गोमांस खाने, शराब पीने, वेश्यागमन करने तथा जनता को धोखा देने आदि के गम्भीर आरोप लगाये गये थे। ये लेख यद्यपि जनता के हित की सद्भावना से स. सम्पादक ने लिखे थे तथापि उनके लिये पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हो रहे थे। तथापि श्री मुन्शीलाल जी का ईश्वर में दृढ़ विश्वास था और उन्होंने श्री भक्तराम जी बैरिस्टर को कहा था कि देखो, ईश्वर की कृपा से कुछ न कुछ प्रबल प्रमाण प्राप्त हो ही जायेंगे। जब उस अभियोग की पेशी होने वाली थी उससे ठीक पूर्व दिन शाम को एक अपरिचित व्यक्ति बहुत से पत्रों का बण्डल लेकर अकस्मात उनकी कोठी में आया और उनके हाथ में वही बण्डल देकर चला गया। उसमें गोपीनाथ के जीवन का कच्चा चिट्ठा था जिसमें उसके गौमांस-भक्षण, मद्यपान, वेश्यागमन, व्यभिचारादि के प्रबल प्रमाण विद्यमान् थे। उन के आधार पर 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट' के हिसाब की जांच-पड़ताल करने वाले आफिस के मुन्शी करीमबक्श को सफाई की ओर से पेश किया गया जिसने

खोल कर इन सब आरोपों को सत्य प्रमाणित किया। मैजिस्ट्रेट ने २ सितम्बर १६०१ को फ़ैसला सुनाते हुए मुन्शीराम जी सम्पादक और श्री वज़ीरचन्द जी उप-सम्पादक 'सद्धर्म प्रचारक' को सर्वथा निर्दोष पाकर मुक्त कर दिया। इस प्रकार अन्य भी अनेक विकट अवसरों पर भगवान् ने भक्त मुन्शीराम जी की आपत्तियों से रक्षा की जिससे उनकी श्रद्धा बढ़ती चली गई। यह श्रद्धा ही उनकी निर्भयता, शक्ति और अदम्य उत्साह का स्रोत थी।

२—निर्भयता और वीरता जिसके अनेक उदाहरण इस तथा पूर्व अध्याय में दिये जा चुके हैं।

३—अन्याय और अत्याचार का घोर विरोध करना और इसके लिये सब प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिये उद्यत रहना।

४—नियमित तथा तपस्यामय जीवन।

५—असत्य के साथ समझौता नहीं करना तथा अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध कभी आचरण नहीं करना।

६—सरलता, सत्यनिष्ठता और स्पष्टवादिता। यदि सब कार्यकर्त्ता इन गुणों को अपने अन्दर धारण कर लें तो हमारा राष्ट्र और समाज अत्यधिक उन्नत हो जाए।

६

राजनैतिक क्षेत्र में अद्भुत कार्य

हमारे चरित्रनायक की स्वराज्यान्दोलन में रुचि तो सन् १८८५ से ही थी और कांग्रेस के अनेक अधिवेशनों में दर्शक व प्रतिनिधि रूप से वे सम्मिलित भी होते रहते थे किन्तु उन दिनों के कांग्रेसजनों और नेताओं की मनोवृत्ति उनसे बहुत भिन्न थी। वे कुछ थोड़े से राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट प्रतीत होते थे और चरित्र-निर्माणादि की ओर उनका ध्यान बहुत कम था। अतः आपने उन दिनों कांग्रेस के कार्य में विशेष अभिरुचि नहीं दिखाई। सन् १९०७ में कांग्रेस के डेपुटेशन पर लाला लाजपतराय, गोखले और श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जब विलायत गये थे तो महात्मा मुन्शीराम जी ने 'प्रचारक' में लिखा था:—

'इन डेपुटेशनों से उन्नति की आशा रखना हानिकारक है। मेरी अपनी राय यह है कि इस धन और समय को व्यर्थ न खोकर हिन्दुस्तान के १ व २ व्यक्ति

को अपना चरित्र और आगामी सन्तति के चरित्र को सुधारने में लग जाना चाहिये।'

सन् १६०७ में कांग्रेस में गर्मदल और नर्मदल में जो फूट हुई उस पर दुःख प्रकाशित करते हुए महात्मा मुंशीराम जी ने 'सद्धर्मप्रचारक' में जो कुछ लिखा था वह यहां विशेष उल्लेखनीय है जिससे यह ज्ञात हो सकेगा कि उनकी दृष्टि में राजनैतिक नेता के क्या गुण और कर्तव्य हैं और क्यों महात्मा गांधी जी जैसे धार्मिक नेता के राजनैतिक क्षेत्र में आने पर श्रद्धेय स्वामी जी ने उनसे सहयोग करना अपना कर्तव्य समझा।

"आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियां तुम्हारे अपने वश में नहीं, जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो? अधिकार! अधिकार! अधिकार! हा! तुम ने किस गिरे हुए शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त की थी। क्या तुमने कर्तव्य कभी नहीं सुना? क्या तुम धर्म शब्द से अनभिज्ञ हो! मातृभूमि में अधिकार का क्या काम! यहां धर्म ही आश्रय दे सकता है! अधिकार शब्द से सकामता की गन्ध आती है। विषयवासना का दृश्य दृष्टिगोचर आता है। उस 'अधिकार' की वासना को अपने

हृदय से नोंच कर फेंक दो। निष्काम भाव से धर्म का सेवन करो। माता पर चारों ओर से जब प्रहार हो रहे हों, जब उसके केश पकड़ कर दुष्ट दुःशासन उसको भूमि पर घसीट रहा हो, क्या वह समय अधिकार की पुकार मचाने का है?......"

यह स्पष्ट है कि ऊपर उद्धृत लेख में राजनैतिक क्षेत्र में जैसे महात्मा नेता की बात कही गई थी वह स्वामी श्रद्धानन्द जी को महात्मा गांधी जी में पूर्ण होती हुई दिखाई दी इसलिये महात्मा गांधी जी द्वारा प्रवर्तित रौलट ऐक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह में उन्होंने महात्मा गांधी जी को पूर्ण सहयोग प्रदान किया और राजनैतिक क्षेत्र में पंजाब की जनता का अद्भुत नेतृत्व किया। ७ मार्च सन् १९१९ को सत्याग्रह की तय्यारी के लिये पहली सार्वजनिक सभा देहली में हुई। १८ हजार की उपस्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द जी पहली बार राजनैतिक मञ्च पर आये। आपने लोगों को बताया कि सत्याग्रह आन्दोलन राजनैतिक की अपेक्षा अधिक धार्मिक है। महात्मा गांधी जी से देहली में मिलने पर स्वामी जी ने सत्याग्रह का अपना यह कार्यक्रम उपस्थित किया कि पंचायती अदालतें स्थापित करके सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जाए। अक्टूबर

सन् १९१९ तक भारत में दस ज़िले तय्यार किये जाएं जो एक साथ भूमि का लगान देना बन्द कर दें। इनमें से पंजाब में ऐसे ५ ज़िलों को तय्यार करने की उत्तर-दायिता आपने अपने ऊपर ली।

३० मार्च सन् १९१९ को देहली में आपके नेतृत्व में जो सार्वजनिक सभाएं हुईं, जलूस निकाला गया और गुरखों की संगीनों के आगे आपने अपनी छाती खोलकर निर्भयता-पूर्वक 'लो मैं खड़ा हूं गोली मारो,' आदि कहा उसका वर्णन तृतीय अध्याय में श्रद्धेय स्वामी जी की निर्भयता के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। वह वस्तुतः इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य घटना है।

इसी प्रकार देहली की जगद्विख्यात् जामा मस्जिद में मुसलमान बन्धुओं के निमन्त्रण पर ४ अप्रेल सन् १९१९ को स्वामी श्रद्धानन्द जी का उपदेश देना और उसका प्रारम्भ—

ओ३म् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधाते सुम्नमीमहे ॥

इस वेद मन्त्र द्वारा और समाप्ति 'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' से करना एक दूसरी स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य घटना है क्योंकि न तो उससे पूर्व और न उसके

पश्चात् कभी किसी अमुस्लिम को जामा मस्जिद में उपदेश देने की अनुमति दी गई। इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उन दिनों श्रद्धेय स्वामी जी ने कैसे, न केवल हिन्दुओं अपितु मुसलमानों के भी हृदयों पर अधिकार जमाया हुआ था। साथ ही एक विशेष बात जो इस महत्त्वपूर्ण घटना से अन्य आर्य कार्यकर्ताओं को सीखने की है वह यह कि श्रद्धेय स्वामी जी कांग्रेस, हिन्दू-महासभा तथा अन्य किसी भी संस्था के साथ मिलकर कार्य करते हुए भी अपने सिद्धान्तों तथा निजत्व (अपनापन) का परित्याग न करते थे। वे सर्वसाधारण की तरह 'गङ्गा गये गङ्गाराम, जमना गये जमनादास' वाली नीति का अनुसरण न करते थे। यदि कांग्रेस, भारतीय संसद्, विधान सभा, हिन्दू महासभादि में अपने अपने राजनैतिक विचारानुसार कार्य करने वाले आर्य भी स्वामी श्रद्धानन्द जी की तरह दृढ़ता दिखायें और निजत्व का परित्याग न करें तो लोगों को आक्षेप का अवसर न मिले।

हिन्दू-मुस्लिम एकता और राम-राज्य के उन दिनों के दृश्य को श्रद्धेय स्वामी जी सदा आदर्श रूप मानते थे और चाहते थे कि पुनः उनकी स्थायी रूप से स्थापना

हो। जिन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था उन दिनों भी सन् १९२६ में स्वामी जी महाराज ने एक लेख में लिखा था कि 'परस्पर मनो-मालिन्य की इतनी दुर्घटनाएं घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी आंखों के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर ज़िन्दा हूँ कि आपस के सन्देह की सब घटनाएं शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाएंगी, धर्म और सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे स्वर्गीय दृश्य देखने में आएंगे।'

स्वामी श्रद्धानन्द जी के नेतृत्व में उन दिनों देहली में सचमुच रामराज्य रहा। शहर में एक भी ताला नहीं टूटा, एक भी मारपीट नहीं हुई, एक भी जेब नहीं कतरी गई—और तो क्या जुएखाने और शराबखाने भी बन्द रहे और सब ने देवियों को मां, बहिन और बेटी समझ कर उनका आदर किया। इस रामराज्य में सरकार की पुलिस व सेना की कहीं छाया तक देखने में न आती थी। शहर का सब प्रबन्ध जनता के अपने हाथों में था। कितनी तपस्या का कठोर जीवन स्वामी जी को इन दिनों व्यतीत करना पड़ता था यह उनके इस कार्यक्रम से

ज्ञात हो सकता है कि वे रात ११ बजे बिस्तर पर लेटते। २॥ बजे प्रातः उठकर बैठ जाते। ५ बजे तक स्नान सन्ध्यादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर शहर में चक्कर लगाने निकल पड़ते। दुपहर को १२ बजे पानी वा शरबत का एक गिलास लेकर दिन भर निकाल देते और रात को ८ बजे चौबीस घण्टों में केवल एक बार भोजन करते। वर्षों से सरकारी न्यायालयों में लटकते मुकद्दमों को स्वामी जी और हकीम अजमल खाँ कुछ ही क्षणों में निपटा देते।

यह खेद और दुर्भाग्य की बात है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी का महात्मा गांधी जी से कुछ राजनैतिक विषयों में तीव्र मतभेद हो गया और २ मई सन् १६१६ को उन्होंने सत्याग्रह समिति से (जिसके प्रधान महात्मा गांधी जी और उप-प्रधान स्वामी जी थे) त्यागपत्र दे दिया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी इस असहयोग आन्दोलन को सफल बनाने में लग गये। उनका प्रभाव कितना अधिक था और पञ्जाब के गवर्नर सर ओड्वायर किस प्रकार स्वामी जी को सारे आन्दोलन का प्राण तथा भयङ्कर क्रान्तिकारी समझते थे, यह उसके इस आदेश से ध्वनित

होता है जो स्वामी जी के सम्बन्ध में उसने दिया था। इस आदेश में कहा गया था कि—

"स्वामी श्रद्धानन्द जी को अमृतसर में न पकड़ा जाये, बल्कि लाहौर पहुंचने पर पैर में बेड़ी और हाथ में हथकड़ी लगाकर बाज़ारों में घुमाया जाए। शहर में मशीनगनें लगा दी जाएं, २००० हथियारबन्द फौज बाज़ारों में खड़ी कर दी जाए और स्वामी जी को इस तरह अपमानित किया जाए कि लोग दहल जाएं।"

१० दिसम्बर १९२२ को प्रातः स्वामी जी अमृतसर पहुंचे। वहां उन दिनों 'गुरु का बाग' का आन्दोलन चल रहा था। अकाल तख़्त में लगे दीवान में स्वामी जी ने देहली-वासियों की ओर से यह सन्देश सुनाया कि शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी का इशारा पाते ही 'देहली से सौ आदमी तुरन्त आने को तय्यार हैं। ५०००) की सहायता इस आन्दोलन के लिये देहली करेगा। उसी दिन स्वामी जी को पकड़ लिया गया और अमृतसर जेल में बन्द कर दिया गया। ५ अक्तूबर तक मुकद्दमा चला और आप को धारा ११७ में १ वर्ष और धारा १४३ में ४ मास की सादी कैद का दण्ड हुआ। २६ अक्तूबर को आपको पुलिस की संगीनों के पहरे में

लारी पर सवार करा खासा रेलवे स्टेशन से सीखचों की गाड़ी में बन्द करके मियांवाली जेल पहुंचा दिया गया।

वहां भी आप नियमित रूप से सन्ध्या, स्वाध्याय व्यायामादि करते रहे जिससे आपका स्वास्थ्य साधारणतया अच्छा ही रहा। सन्ध्योपासना के लिये प्रातः दो घण्टे का समय वे अवश्य देते थे। वहां कुछ आर्यकुमारों को वे संध्या पर उपदेश भी देते रहते थे। २७ नवम्बर को पंजाब के छोटे लाट सर् ऐडवर्ड मैक्लगन मियांवाली जेल का निरीक्षण करने आए। उन्होंने स्वामी जी से पूछा 'कहिये, आप सर्वथा आराम से तो हैं?' स्वामी जी ने उत्तर दिया 'हां, मुझ को सभी जगह आराम है।'

२६ दिसम्बर को स्वामी जी को उस समय जब कि वे कथा कर रहे थे अचानक छोड़ दिया गया। जेल के दिन भी स्वामी जी ने आनन्दपूर्वक काटे।

इस जेल-जीवन को बिताते हुए श्रद्धेय स्वामी जी ने देश की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया तो वे जिस परिणाम पर पहुंचे वह उनके अपने शब्दों में निम्न था:—

"मुझे निश्चय हुआ कि अभी चरित्रगठन में बड़ी कमी है। मेरी सम्मति में स्वदेश के राष्ट्र के लिए पहली

आवश्यकता यह है कि जनता को ब्रह्मचारी बनाकर और उसमें सहनशक्ति फूंक कर एक आत्मोन्नत स्वराज्य-सेना खड़ी की जाए, तब वैयक्तिक गुलामी की जंजीरें काट कर अत्याचार से युद्ध हो सकेगा। मुझ अल्पशक्ति मनुष्य के लिये यही बड़ा काम है कि ब्रह्मचर्य के उद्धार और दलित जातियों के उत्थान का मार्ग जो अपने को सूझा है, उसका निर्देश आर्य जाति के आगे रखने का यत्न करूँ।"

इसके पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी कांग्रेस के साथ मिलकर दलितोद्धारादि विषयक कार्य करते रहे। २३ जुलाई १९२३ को आपने उस समय कांग्रेस के प्रधान मन्त्री पं० मोतीलाल जी नेहरू के नाम इन शब्दों में त्याग-पत्र भेज दिया कि:—

'मैंने अमृतसर और मियांवाली जेलों में यह अनुभव किया है कि चरित्रगठन और अस्पृश्यता-निवारण द्वारा स्थापित हुए राष्ट्रीय ऐक्य के बिना कांग्रेस अथवा उस सरीखी राजनैतिक संस्थायें कुछ भी नहीं कर सकेंगी। मैं अपनी सब शक्ति इस कार्य में लगाना चाहता हूँ। इसलिये आप मेरा त्याग-पत्र स्वीकार करें।'

७

शुद्धि की वेदी पर अमर बलिदान

श्रद्धेय स्वामी जी द्वारा प्रवर्तित शुद्धि आन्दोलन का कुछ वर्णन गत अध्यायों में किया जा चुका है। स्वामी जी इस आन्दोलन को अत्यावश्यक समझते थे और इस के संचालन में तत्पर थे। क्योंकि वे यह मानते थे कि धर्म के विषय में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। हां, किसी भी प्रकार के प्रलोभन व दबाव के प्रयोग को इस विषय में अत्यन्त अनुचित समझते थे। सन् १९२६ में कराची की असग़री बेगम नामक एक मुसलमान स्त्री अपने दो बच्चों और भतीजे के साथ देहली आर्यसमाज में आई और उसने आर्यधर्म स्वीकार कर लेने की इच्छा प्रकट की। उसकी इच्छा-नुसार उसका शुद्धि-संस्कार करके शान्तिदेवी यह नाम रक्खा गया। 'देहली वनिता विश्राम आश्रम' में रह कर उसने हिन्दी संस्कृत आदि का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। लगभग ३ मास पश्चात् उसके पिता मौलवी ताजमुहम्मद खाँ उसको खोजते हुए देहली पहुँचे।

कुछ दिन बाद उसके पति अब्दुल हलीम भी आ गये। इन दोनों ने शान्ति देवी से मिलकर उसे फिर से इस्लाम में लौट आने और अपने साथ चलने का अनुरोध किया। उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इस पर उन्होंने स्थानीय इस्लामी अंजुमनों के भड़काने में आकर शान्ति देवी, स्वामी श्रद्धानन्द जी, प्रो. इन्द्र जी विद्यावाचस्पति, डाक्टर सुखदेव जी, श्री देशबन्धु गुप्त, लाला गणपतराय और कराची आर्यसमाज के मन्त्री पर मुकद्दमा दायर करा दिया। शान्तिदेवी पर बच्चों को भगाने और शेष सब पर उसको सहायता देने का आरोप लगाया गया था। जून से दिसम्बर तक मुकद्दमा चला। ४ दिसम्बर १९२६ को सब अभियुक्त निर्दोष प्रमाणित होकर मुक्त कर दिये गये। किन्तु मतान्ध मुसलमानों को स्वामी जी के विरुद्ध शुद्धि-आन्दोलनादि के नाम पर इतना भड़काया जा चुका था कि उन्होंने प्रतीत होता है एक षड्यन्त्र रचकर आर्यों के नेता स्वामी श्रद्धानन्द जी की हत्या का विचार परिपक्व किया। स्वामी जी के पास अनेक गुमनाम पत्र धमकियों से भरे आने लगे किन्तु वे नर-सिंह क्या धमकियों की पर्वाह करने वाले थे? उनके भक्तों ने अङ्गरक्षक के रूप में अपनी सेवाएँ भी उन्हें

समर्पित कीं किन्तु ईश्वर-भक्त स्वामी जी ने उनकी सेवाएं स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इस बीच में स्वामी जी को श्री घनश्यामदास जी बिड़ला के तार आने पर बनारस जाना पड़ा। वहाँ से वे बीमार होकर लौटे। फिर इन्द्रप्रस्थ गुरुकुल के अधिकारियों के अनुरोध पर वे ८ दिसम्बर (१६२६) को गुरुकुल गये। गुरुकुल पहुँचते ही प्रातः तेज़ ठण्डी हवा लगने से उन्हें बुख़ार हो गया और सायं लौटने पर जब डा० सुखदेव जी ने परीक्षा की तो मालूम हुआ कि उन्हें ब्रांकोनमोनियां का आक्रमण हो चुका है। दूसरे दिन से डा० अंसारी की (जिन पर स्वामी जी को बहुत अधिक विश्वास था) चिकित्सा प्रारम्भ हुई। अवस्था सुधरने लगी। पर, जब डा० अन्सारी को चार दिन के लिये आवश्यक कार्यवश रामपुर जाना पड़ा तो स्वामी जी की बीमारी बिगड़ गई। डा० अन्सारी ने लौटते ही फिर संभाल लिया और दो दिन में ही उनका ज्वर उतर गया। डा० सुखदेव जी तथा अन्य सब भक्तों ने स्वामी जी को विश्वास दिलाया कि वे कुछ ही दिनों में अच्छे हो जाएंगे किन्तु स्वामी जी ने स्पष्ट कहा कि 'अन्दर से यह आवाज़ नहीं उठती कि मैं उठ खड़ा होऊंगा। वसीयत लिखा लो तो अच्छा है।'

दोपहर को अपने सुपुत्र पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति को बुलाकर आपने कहा 'इस शरीर का कुछ ठिकाना नहीं, तुम एक काम ज़रूर करना। मेरे कमरे में आर्यसमाज के इतिहास की सामग्री पड़ी है, उसे सम्भाल लेना और समय निकाल कर इतिहास ज़रूर लिख डालना। इतिहास के लिखने में मुझे माफ़ नहीं करना। मैंने बड़ी २ भूलें की हैं। तुम्हें तो मालूम है कि मैं क्या २ करना चाहता था और किधर पड़ गया।' इतना कहते २ स्वामी जी का दिल भर आया और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं।

इन शब्दों से स्वामी जी की उदारता और विशाल-हृदयता का आभास मिलता है। कुछ दिन पश्चात् डा० सुखदेव जी ने स्वामी जी को कहा—स्वामी जी, अब आप अच्छे हो रहे हैं। बस दो दिन में आपको रोटी दे दूंगा और आप बैठने लगेंगे। इस पर स्वामी जी ने कहा—आप लोग तो ऐसा ही कहते हैं। पर मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरा यह शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा। इस रोगी देह से अब देश का क्या कल्याण होगा? अब तो एक ही इच्छा है कि दूसरे जन्म में नये देह में इस जीवन का काम पूरा करूँ।

स्वामी जी की इस शुभ भावना के विषय में कोई

टिप्पणी अनावश्यक है।

२१ दिसम्बर को व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीन-दयालु जी शर्मा स्वामी जी के पास आये और बोले—स्वामी जी ! अभी तो हम लोगों को बहुत-सा काम करना है। आप क्यों इतनी जल्दी मोक्ष की तय्यारी करने लगे थे ? अब तो आप राज़ी हो जाओगे।

स्वामी जी ने इसका एक ही उत्तर दिया कि—इस कलियुग में मोक्ष की इच्छा नहीं। मैं तो चोला बदल दूसरा शरीर धारण करना चाहता हूँ। अब यह शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा। इच्छा है फिर भारतवर्ष में ही उत्पन्न होकर इसकी सेवा करूँ।

२३ दिसम्बर को अमर बलिदान से कुछ ही पूर्व शुद्धि-सभा के मन्त्री स्वामी चिदानन्द जी शुद्धि-सभा के प्रधान राजा रामपालसिंह जी का स्वामी जी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में तार लेकर आये। स्वामी जी ने उत्तर के अन्त में लिखवाया:—

"अब तो यही इच्छा है कि दूसरा शरीर धारण कर शुद्धि के अधूरे काम को पूरा करूँ।" श्रद्धेय स्वामी जी के अन्दर समाज और देश की सेवा के कितने ऊँचे

भाव बलिदान के समय और उससे पूर्व काम कर रहे थे, इसका आभास इन ऊपर उद्धृत महत्त्वपूर्ण, स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य, शब्दों से मिलता है। ये शब्द उसी सुप्रसिद्ध श्लोक का सहसा स्मरण कराते हैं जिसमें कहा गया है :—

नत्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापवर्गकम्।
कामये दुःख तप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अर्थात् मैं राज्य की कामना नहीं करता, स्वर्ग वा मोक्ष की भी मैं कामना नहीं करता। मैं तो यही चाहता हूँ कि दुःख का नाश कर सकूं। धन्य थे इतने उच्च भाव रखने वाले वे हमारे श्रद्धेय आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज !

अन्तिम दृश्य :—४ पौष संवत् १९८३, २३ दिसम्बर सन् १९२६ की मध्याह्न पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति प्रतिदिन की भांति जब श्रद्धेय स्वामी जी के दर्शन करने गये तो उन्होंने उन्हें सोये हुए पाया। पास के कमरे में मेरे सहपाठी, स्वामी जी के मन्त्री, पं० धर्मपाल जी विद्यालङ्कार सोये हुए थे और स्वामी जी की चारपाई के पास दरी पर उनके सेवक धर्मसिंह जी गाढ़ निद्रा में सोये पड़े थे। स्वामी जी की निद्रा में

बाधा डालना उचित न समझ कर श्री पं० इन्द्र जी सायंकाल दर्शन का विचार कर के वापिस घर चले गये और किसी स्वयंसेवक को कमरे में बैठा गये। लगभग ढाई बजे डा० सुखदेव जी, भक्त जमुनादास जी आदि कुछ सज्जन स्वामी जी के दर्शनार्थ आए। पौने चार बजे स्वामी जी ने सब को विदा किया। सेवक धर्मसिंह ने कमोड़ लाकर दिया और शौचादि से निवृत्त होकर स्वामी जी मसनद के सहारे सावधान होकर बैठ गये। इतने में सेवक धर्मसिंह ने सीढ़ियों में से किसी युवक को ऊपर आते हुए देखा। उसने उसे रोकना चाहा पर युवक ने स्वामी जी के दर्शन का आग्रह किया। स्वामी जी ने आवाज़ सुनकर कहा "कौन है ? अन्दर आने दो !" अब्दुल रशीद नामक उस मुस्लिम युवक ने (जो एक साधारण जिल्दसाज़ था) आते ही स्वामी जी से कहा कि मैं आपसे इस्लाम के मुतल्लिक कुछ गुफ़्तगू (बात-चीत) करना चाहता हूँ। स्वामी जी ने कहा—"भाई मैं बीमार हूँ। तुम्हारी दुआ से राज़ी हो जाऊँगा तो बातचीत करूँगा।"

इतने में उसने पानी मांगा। स्वामी जी ने सेवक धर्मसिंह को पानी लाने को कहा। ज्योंही धर्मसिंह पानी

लेने के लिये बाहर की तरफ़ गया उस दुष्ट ने मसनद के सहारे बैठे हुए स्वामी जी पर पिस्तौल से तीन गोलियां चला दीं। सच्चे सेवक धर्मसिंह ने उसका सामना किया तो उसने उसकी टांग पर भी गोली चला दी जिससे वह ज़मीन पर लोट गया। हत्यारा भागने की चेष्टा में ही था कि स्वामी जी के मन्त्री पं० धर्मपाल जी विद्या-लङ्कार ने आकर उसको दबा लिया। एक हाथ रिवाल्वर वाले हाथ पर और दूसरा उस पर रखे हुए उस को आध घण्टे दबाये रखा। इन तीनों गोलियों ने स्वामी जी महाराज का तो शरीरान्त कर दिया था। अन्त समय में उन्होंने ओ३म् का स्मरण अवश्य किया होगा और साथ ही ऐसे मतान्धों की सुमति के लिये भी भगवान् से प्रार्थना की होगी।

इस प्रकार आदर्श सुधारक, आदर्श आचार्य, आदर्श कर्मयोगी नेता, दीनों-दलितों के परमोद्धारक, सच्चे ईश्वर भक्त, श्रद्धा-मूर्ति, आर्य जाति के हृदयसम्राट् सन्यासी का अमर बलिदान २३ दिसम्बर १९२६ की सायं चार बजे के लगभग हुआ। वस्तुतः वीर सन्यासी के योग्य यही अवसान था।

यदि नमोनिया की बीमारी में उनका देहावसान

हो जाता तो भी उनकी आर्य-जाति और देश के उद्धारार्थ की गई सेवाओं के कारण उनका नाम सदा श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता किन्तु वह उनके योग्य अन्त न होता। मैंने बम्बई में उनके वे व्याख्यान सुने थे जिनमें गुरु तेगबहादुर, गुरु अर्जुनदेव आदि के बलिदानों का हृदय-द्रावक वर्णन करते हुए उन्होंने इच्छा प्रकट की थी कि उनका भी वैसा ही बलिदान हो। आर्यपथिक लेखराम का जीवन-चरित्र लिखते हुए भी उसके अंत में उन्होंने ऐसी ही इच्छा व्यक्त की थी। मेरा तो अनुभवसिद्ध विश्वास है कि शुद्ध हृदय होने के कारण स्वामी जी महाराज भविष्य की बात को बहुत कुछ जान लेते थे और श्रद्धा के कारण उनकी अन्तर्दृष्टि या अन्तः प्रतिभा (Intuition) का बहुत विकास हुआ था। उनको अपने इस बलिदान का आभास भी कई वर्षों से हो रहा था। ऐसे प्रतीत होता था। १८, १९, २० अगस्त सन् १९२३ को जब बनारस में 'अखिल-भारतीय हिन्दू महासभा' का सफल अधिवेशन हुआ जिसमें शुद्धि आदि विषयक प्रस्ताव स्वीकृत किये गये और उसका श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द जी को दिया गया तो स्वामी जी ने अपनी उदारता और दूरदृष्टि से लिखा था:—

'अकेले मुझको सब श्रेय देना उन कार्यकर्ताओं की उपेक्षा करना है जिन्होंने अपना सब समय इस काम में लगाया हुआ है।......फिर भी मुझको प्रसन्नता यह है कि पुरातन आर्य सभ्यता की सेवा के लिये बलिदान का मुकुट धारण करने के लिए एकमात्र मुझे योग्य समझा जा रहा है।'

इन शब्दों से स्पष्ट है कि शुद्धि आन्दोलन के कारण अपने बलिदान की कल्पना उनके मन में स्पष्ट थी जो कार्यरूप में परिणत होकर उनको अमर बना गई। महात्मा नारायण स्वामी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है :—

'नवम्बर १९२६ ई० के लाहौर आर्यसमाज के उत्सव में मेरा और स्वामी श्रद्धानन्द जी का अन्तिम साथ हुआ था। तब वे कहते थे कि अब शरीर दुर्बल हो गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि अब इसके छूटने का समय निकट आ चुका है।

इसके लगभग १ मास पश्चात् उनका अमर बलिदान हुआ।'

उनके बलिदान पर अर्थी के साथ जो अश्रुतपूर्व विशाल जलूस निकला उसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि ऐसा न करना उस हृदय-सम्राट् संन्यासी के प्रति कृतघ्नता प्रकट करना होता।

८

श्री श्रद्धानन्द वचनामृत

(१) प्यारे मित्रो! उस परमपिता की अनुकूलता और उसकी आज्ञा का पालन क्या ही आनन्ददायक है। आओ, हम सब मिलकर उस बलपति के द्वार पर चलें जिससे उनसे बल प्राप्त करके हम इस योग्य हो जाएं कि संसार-मात्र की बुरी वासनाओं का मुकाबला करते हुए, उस सब से महातेजस्वी और परमपिता की नित्य स्तुति कर सकें और हमारे लिये सृष्टि के सब पदार्थ सुखदायी हो जाएं।

(२) हे प्रिय बन्धुवर्ग! आओ ईश्वर की आज्ञा पालन करते हुए नित्य प्रति सुगन्धिदायक, अच्छे २ पुष्टिकारक और बुद्धिवर्धक पदार्थों से अग्नि में हवन-यज्ञ करें और वायु को इन गुणों से युक्त करके अपने शरीर को नीरोग रख सकें जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सुगमता हो।

(धर्मोपदेश पृ० ११)

(३) प्यारे भ्रातृगण ! आओ दोनों समय नित्य-प्रति संध्या करते हुए ईश्वर से याचना करें और उसकी सत्ता की दया से इस योग्य बनने का यत्न करें कि हमारे मन, वाणी और कर्म सब सत्य ही हों। सर्वदा सत्य का चिन्तन करें। वाणी द्वारा सत्य ही प्रकाशित करें। और कर्मों में भी सत्य का ही पालन करें।

(धर्मोपदेश पृ० १४)

(४) आओ ! सुख की अभिलाषा करने वालो ! परमात्मा की आज्ञा मानते हुए शुभ कर्म में प्रवृत्त होवो। सदा भले पुरुषों की संगत करते हुए ईश्वरीय प्रेरणा से प्रवृत्त होकर अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करो ताकि परमानन्द की प्राप्ति हो।

(धर्मोपदेश पृ० १७)

(५) कौन मनुष्य है जो उस परमात्मा की आज्ञा का उलंघन करे और कष्ट वा दुःख में न पड़े और बुरा वा निकम्मा न बन जाए। यह शरीर वा आत्मा निकम्मा न रहना चाहिये, गन्दा वा अपवित्र न होना चाहिये। सत्य वा सदाचार को कभी हाथ से न जाने देना चाहिये क्योंकि आनन्द इसी में है। उस परमात्मा की इच्छा इसी में है। सत्यमार्ग का उपदेश यही है।

यही स्वर्गधाम है। हे मनुष्यो ! आओ ! और उस परमात्मा के इस उपदेश पर कटिबद्ध हो जाओ।

(धर्मोपदेश पृष्ठ २०)

(६) क्या तुम्हारे हृदय के अन्दर होते हुए, घोर पाप करते हुए भी उस आत्मिक सूर्य का चमत्कार दृष्टिगोचर हुआ है ? और क्या तुमने उस समय उस मार्गदर्शक प्रकाश से सहायता लेने का यत्न किया ? अगर नहीं, तो तुमसे बढ़कर मन्दभाग्य कौन है ? किन्तु निराश मत होवो, चमत्कार तुम्हें फिर कभी दिखाई देगा। अत्यन्त पाप करने पर भी फिर कभी तुम्हारा अन्तरात्मा प्रकाशित हो जाएगा। उस समय उस अवसर को न छोड़ते हुए अपितु बुद्धि के चक्षुओं को उस दृश्य के अन्दर मग्न करके शान्त चित्त हो जाना।

(धर्मोपदेश पृष्ठ २४)

(७) हे भ्रातृगण ! क्या उस परमेश्वर से विमुख होकर, उसे भूलकर, क्या हम कभी भी अपने उद्देश्य को पूर्ण कर सकते हैं ? सोचो और चेतो ! अब तक हमने समय व्यर्थ गंवाया है। अब तक हमने अपने लक्ष्य को ध्यान में न रखते हुए अन्धेरे में हाथ-पैर मार कर उन्हें घायल कर दिया है। जो शक्तियाँ हमें

अपनी रक्षा के लिए मिली थीं उन्हें अलग अपने नाश के लिए प्रयोग करते रहे हैं। अब भी समय है और सदा समय है क्योंकि सबका पिता मानुषिक निर्बलताओं से मुक्त, न्यायरूप दण्ड से हर समय हम पर हाथ रखता है। बालक हो या युवा अथवा वृद्ध प्रत्येक को समय है कि हर समय अपने जीवन को पलटा दे कर प्रभु की शरण में आन पड़े क्योंकि वहां से किसी विश्वासी पुरुष को भी निराश लौटते हुए किसी ने नहीं देखा।

(धर्मोपदेश पृ० ३३)

(८) क्या तुम सचमुच परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हो? अगर शुद्ध स्वभाव-स्वरूप परमात्मा को प्रत्येक स्थान पर उपस्थित होने को स्वीकार करते हुए भी तुम्हारा मन अशुद्ध है; अगर उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार के बुरे भाव अब तक उसमें उत्पन्न होते हैं, यदि तुम अपनी वाणी से निन्दा, छल और व्यभिचार के शब्द निकाल सकते हो, अगर तुम अपने शरीर से बुरे कार्य कर सकते हो तो निश्चय जानो कि तुमने अब तक उसकी सर्व-व्यापकता को अनुभव नहीं किया।

(धर्मोपदेश पृ० ३७)

दैनिक स्वाध्याय :—

(६) अग्निहोत्र इकट्ठे करने के पश्चात् सब गृही जुदे २ बैठकर स्वाध्याय में लग जाएँ। इसमें वृद्ध, बाल, नर-नारी का कोई भेद नहीं। बूढ़े, जवान, बाल, स्त्री, पुरुष सबको ही स्वाध्याय नित्यप्रति करना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि पौराणिक कुसंस्कारों के कारण बहुधा मनुष्य वृद्धावस्था को ही धर्मग्रन्थों के पढ़ने का समय समझते हैं। यह बड़ी भारी भूल है।

जब सब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाएँगी और जब शरीर भी संभाले न संभलेगा उस समय धर्म-धन का भला क्या संचय हो सकेगा ? इसीलिए आप्त पुरुषों ने कहा है कि "युवैव धर्मशीलः स्यात्"। वृद्धावस्था से पूर्व ही मनुष्य को धर्म का अभ्यास करना चाहिये। धर्म के मर्म को जानने के लिए स्वाध्याय से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं। इतर पुरुषों की तो गणना ही क्या है, ऐसे शास्त्रवित् आर्यसमाजी भी देखे गए हैं जिनको एक सप्ताह में एक बार भी स्वाध्याय करने का अभ्यास नहीं। कुछ संस्कृतज्ञ पण्डित समझते हैं कि स्वाध्याय का उपदेश उनके लिए नहीं क्योंकि

वे धर्मोपदेश तथा अध्यापन के काम में लगे हुए हैं। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। प्रातःकाल का स्वाध्याय क्रियायोग का एक अंग महामुनि पातञ्जलि ने बतलाया है और समाधि की सिद्धि के लिए उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि कोई आर्य पुरुष अपने आपको पण्डित समझते हैं तो उस पण्डिताई को स्थिर रखने के लिए भी उन्हें स्वाध्याय की आवश्यकता है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते उनको ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य मंगाकर पढ़ना चाहिए। जो वेदभाष्य को न समझ सकें उनके लिए सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका आदि ग्रंथ उपयोगी हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि आर्यगृह में कोई भी स्त्री-पुरुष ऐसा नहीं होना चाहिए जो नित्य स्वाध्याय न कर ले। इससे धर्म में तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी। आपत्-काल में भी धैर्य स्थिर रखने का अभ्यास पड़ेगा।

(आर्यों के नित्यकर्म पृ० २१)

आँख बन्द करो। ज्ञान-नेत्रों को बलपूर्वक खोलो और देखो उस अनन्त शक्ति को जिसने तुम्हारी रक्षा के लिए हाथ पसार रखे हैं। चले जाओ पूर्ण विश्वास के साथ उसकी गोद में और फिर तुम उस उत्तम

अवस्था को प्राप्त हो सकोगे जहाँ पर बुढ़ापे और मृत्यु का भय नहीं रहता !

(धर्मोपदेश पृ० १०१)

आर्यों को सन्देश :—

तुम यह मत भूलो कि वैदिक धर्म कोई सम्प्रदाय या पन्थ नहीं है। यह वह सत्य सनातन धर्म है जिसके बिना संसार की सामाजिक व्यवस्था एक पल भर के लिये भी नहीं रह सकती। प्राचीन काल में असंख्य आध्यात्मिक कोषों को खोलने वाली चाबी तुम्हारे ही हाथों में दी गई थी और अब भी अशान्त संसार को शान्ति देना तुम्हारा ही काम है, किन्तु पहले तुमको अपनी सब अपवित्रताओं को धोना होगा। आज गम्भीर भाव से यह प्रतिज्ञा करो कि तुम दैनिक पञ्च महायज्ञों के 'अनुष्ठान में प्रमाद न करोगे, तुम अस्वाभाविक जाति-बन्धन के बन्धन को तोड़कर वर्णाश्रम-व्यवस्था को अपने जीवन में परिणत करोगे, तुम अपनी मातृभूमि में से अस्पृश्यता के कलङ्क का समूल नाश कर दोगे और तुम आर्यसमाज के सार्व-भौम मन्दिर का द्वार मत-सम्प्रदाय, जाति, रंग आदि के भेद-भाव का कुछ भी विचार न करके मनुष्यमात्र के

लिये खोल दोगे। परम-पुरुष परमात्मा इस गम्भीर प्रतिज्ञा के पालन में तुम्हारे सहायक हों॥

(२१-५-१६२५ को देहली से मेरे द्वारा प्रेषित
श्रद्धेय स्वामी जी का सन्देश)

आर्य-कुमारों के लिये सन्देश :—

"सेवक बनने का यत्न करो, क्योंकि लीडरों की अपेक्षा आर्य जाति को सेवकों की बहुत अधिक आवश्यकता है। जब कभी आपका पैर डगमगाने लगे तो राम के सेवक हनुमान् का स्मरण कर लिया करो। ...नवयुवको! मैं पूछता हूँ, क्या तुम में से कोई भी दयानन्द-रूपी राम का सेवक हनुमान् बनने का यत्न न करेगा? महावीर के बिना दयानन्द का काम अधूरा पड़ा है। मुझे पूरी आशा है कि दयानन्द के काम को पूरा करने के लिये, पाप की लङ्का का विध्वंस करने के लिये, तुम्हीं में से महावीर निकलेंगे।"

(२२ आश्विन संवत् १६७० को भारतवर्षीय आर्य-कुमार परिषद् देहली अधिवेशन के प्रधान रूप में दिये महात्मा मुंशीराम जी के भाषण से उद्धृत)।

९

सुप्रसिद्ध महानुभावों द्वारा समर्पित श्रद्धाञ्जलियां

पूज्य महात्मा गांधी जी—(पूज्य स्वामी जी के बलिदान पर)

"स्वामी श्रद्धानन्द जी एक सुधारक थे। वे कर्मवीर थे, वाक्शूर नहीं। उनका जीवित-जागृत विश्वास था। इसके लिये उन्होंने अनेक कष्ट उठाये थे। वे वीरता और साहस के मूर्त-रूप थे। वे संकट आने पर कभी घबराते नहीं थे। वे एक वीर सैनिक थे। वीर सैनिक रोग-शय्या पर नहीं किन्तु रणाङ्गण में मरना पसन्द करता है।

ईश्वर उनके लिये धर्मवीर हुतात्मा (शहीद) की मृत्यु ही चाहते थे और इसलिये यद्यपि वे उस समय भी रोग-शय्या पर थे, एक घातक के हाथों से उनके देह का अन्त हुआ। गीता के शब्दों में "सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ, लभन्ते युद्धमीदृशम्" धन्य और सौभाग्यशाली हैं वे वीर जिनको ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है।

मृत्यु किसी समय भी सुखदायक होती है, किन्तु यह उस वीर के लिये दुगुनी सुखदायक होती है जो

अपने ध्येय वा सत्य के लिये मरता है।...इसलिये मैं उनकी मृत्यु पर शोक नहीं मना सकता। उन तथा उनके अनुयायियों से मुझे एक प्रकार से ईर्ष्या होती है। क्योंकि यद्यपि श्रद्धानन्द जी मर गये हैं तथापि वे जीवित हैं। वे उससे भी अधिक सच्चे अर्थ में अब जीवित हैं जबकि वे अपने विशाल देह के साथ हमारे मध्य में विचरण करते थे। जिस कुल में उनका जन्म हुआ और जिस देश के साथ उनका सम्बन्ध था वे उनकी इस प्रकार की शानदार मृत्यु पर बधाई के पात्र हैं। वे वीर के समान जिये और वीर के समान ही मरे॥"

(यङ्ग इण्डिया ३० दिसम्बर १६२६)

"श्रद्धानन्द जी की भारत को देन उनकी सत्य में अगाध श्रद्धा है। 'श्रद्धानन्द' यह नाम ही उनकी उस भावना का परिचायक है। (वे नित्य-प्रति श्रद्धावान् थे और उसी में आनन्द मनाते थे)। उनके लिए सत्य और जीवन एक हो गए थे। सत्य ही जीवन था और जीवन ही सत्य था। उनकी मृत्यु उनके निर्भीक, अनथक प्रयत्नों के अमर-चित्रों को आलोकित करती हुई एक प्रकाश-किरण की तरह हमारे सामने आती हैं।"

(कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

"यह पुरानी रीति है कि अपने महात्माओं की स्मृति से लाभ उठावें। स्वामी जी ने जिस निष्ठा, प्रेम और दृढ़तापूर्वक अपने धर्म को सारी ज़िन्दगी भर निबाहा वह हम सबके लिए एक अत्यन्त शुभ और उत्साहोत्पादक सन्देश है। मैं आशा करता हूँ कि हम उनके पद-चिन्हों पर चलकर उनकी स्मृति को कायम रक्खेंगे और देश-सेवा में प्रवृत रहकर उस काम को पूरा करेंगे जिसको वह पूरा नहीं कर पाये।"

(राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद)

आदर्श-जीवन

"मैं स्वामी श्रद्धानन्द जी की पवित्र स्मृति में सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि देश उनके उदाहरण को के सामने रखकर उनके आदर्श जीवन से प्रेरणा लेगा।"

(पं० जवाहरलाल नेहरू)